

No-057652
Lo-43.15

२०७

तीर्थान्तर

जुलाई १९८८

वर्ष १८ अंक ३

आषाढ २०४५

मोह - चुनौती|(१)

आज अचानक 'द्रव्यसंग्रह' की ५६ वीं गाथा पर ध्यान चला गया। वैसे ध्यान कुलौंचे भरता है हिरण की तरह सब ओर; किन्तु ध्यान पर ध्यान अक्सर नहीं जाता है। असली जगह हमारी आँख चूक जाती है। हम हारते ही तब हैं, जब हम अमलियत को चूक जाते हैं और वह जो सिर्फ भ्रम होता है, उस पर आ टिकते हैं; संयोगवश उसे अन्तिम भी मान लेते हैं, और बहने लगते हैं संसार-की-नदी में निरुद्देश्य।

कई बार कई घटनाएँ हमारे चित्त-तट को छूती हैं; किन्तु व्यामूढ़ हम, उन पर आरूढ़/सवार सत्य को देख नहीं पाते। चलते रहते हैं अ-यथा में अपनी अन्तहीन व्यथा ढोते।

शायद हम नहीं जानते कि हम बाहर-भीतर कितनी चुनौतियों से घिरे हुए हैं? जिन्हें हम अपनी सुख-सुविधा का स्रोत मानते हैं वे ही क्रमशः दुःख और आकुलता-के-स्रोत साबित होते हैं। जो नकली है, किन्तु दिखायी असली-जैसा पड़ रहा है, उस पर से जैसे ही मुलम्मा हटता है, हमारी आँखें उधड़ने लगती हैं।

हम जिन स्थितियों और व्यक्तियों को अपने जीवन की अनिवार्यता मानते हैं और मानते हैं कि उनके बिना हम एक पल को भी जी नहीं पायेंगे, वे ही अपने स्वार्थ-के-उन्माद में इस तरह सिद्ध होते हैं कि जैसे हमारा और उनका कभी कोई सरोकार ही न रहा हो। जैसे सूरज की धूप शाम आते-आते मुरझा जाती है, या जैसे अंजलि-का-जल धीरे-धीरे रित जाता है; ठीक वैसे ही हमारे भ्रम खुलने लगते हैं। हम सोचते हैं कि यह अपना है,

बहुत अपना है, कितना ध्यान रख रहा है हमारा, कितने सुख-साधन जुटा रहा है हमारे निमित्त; किन्तु दूसरे ही क्षण हम पाते हैं कि जो भी किया गया था, या किया जा रहा है, वह हमारे लिए था ही नहीं, वह सब तो खुद के लिए था। हमारा भ्रम था कि हम उस किये जा रहे को अपने लिए मान रहे थे।

असल में, कोई किसी के लिए कुछ कर नहीं सकता; जो यह सोचता है कि कर रहा है वह इस महान् सच्चाई से खुद को अपरिचित रख रहा है कि इस जगत् में कुछ भी किया नहीं जा रहा है—सब कुछ हो रहा है।

'होने' से बड़ी सच्चाई इस संसार में है ही नहीं।

गीर्वाण

विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

वर्ष १८; अंक ३; जुलाई १९८८
आषाढ वि.सं. २०४५; वी. नि. सं. २५१४

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
छायांकन : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये
प्रस्तुत अंक : तीन रुपये
आजीवन : तीन सौ रुपये
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटर, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

क्या / कहाँ

चुनौतियाँ / मोह - चुनौती (१)

-प्रलयंकर आव. २

खालीपन का एहसास

-संपादकीय ३

आचार्य धरसेन की चिन्ता और श्रुत-संरक्षण का
दायित्व-बोध

-डॉ. गोकुलचन्द्र जैन ७

तुम : मरो मत, जियो (कथा-बोध)

-यशपाल जैन १३

एक विचार-क्षण (कविता)

-ब्र. जयसागर १४

निर्वाण : फिर निर्माण क्यों ?

-आनन्दकुमार जैन १५

किस दिशा में जा रह हैं जैन ?

-पुषराज १८

सूदखोर संस्कृति : क्या दे रही है यह विरासत में ?
(झाँकिये गेरेवाँ में)

-प्रलयंकर २३

पत्र-पत्रांश २५

समाचार-परिशिष्ट २७

तराजू की तरह बनें आव. ४

आवरण-छाया : प्रतीक्षा/विश्वास जैन

खालीपन का एहसास

आज जब हम चारों ओर नजर दौड़ाते हैं, तब ऐसा लगता है जैसे सब कुछ खाली हो गया है। लगता है पहले ऐसे कुछ कुर्सीनशी लोग थे जिनके द्वारा सामाजिक जिम्मेदारियाँ फुर्ती और ईमानदारो से पूरी होती थीं। आज, सब जानते हैं कि, कुर्सियाँ बढ गयी हैं; किन्तु उन्हें गौरवान्वित करने वालों का टोटा पड गया है। कई दफा ऐसा होता है कि कुर्सियाँ भरी होती हैं; फिर भी एहसास होता है जैसे सब कहीं खाली-खरस है, वे रिक्त हैं और कई बार ऐसा होता है कि कुर्सी खाली है फिर भी भरी हुई है। कुछ लोग फासले-पर-से-कुर्सियों पर बैठे होते हैं और कुछ लोग उनमें बैठे हो कर भी बैठे हुए नहीं होते।

असल में कुर्सियों के भरे या खाली होने का गणित ही अलग है। जो लोग कुर्सी के लिए लालायित होते हैं, वे ताज्जिन्दगी उसे भर नहीं पाते; और जिनके लिए कुर्सी प्यासी होती है, वे चराग ले कर भी ढूँढे नहीं मिलते। इस हिसाब से आज तमाम सामाजिक कुर्सियाँ खाली पड़ी हैं। भरी-हुई-कुर्सियाँ खाली पड़ी हैं। उनमें अब न कोई कशिश है, न कोशिश; सिर्फ एक अन्तहीन लालसा है कीर्ति की। वस्तुतः जो कीर्ति-के-लिए-कुर्सी-की-कामना करते हैं, कुर्सी उनके लिए सिर धुनती है, और ऐसे लोग जिनसे वह मुहागिन बनती है सदियों बाद उसे गौरवान्वित करते हैं।

वस्तुतः आज सामाजिक कुर्सियों पर जो लोग हैं, वे कुर्सियों-के-लिए हैं; दुर्भाग्य से कुर्सियाँ उनके लिए नहीं हैं। वे उन पर हैं; किन्तु होने से क्या होता है? अस्तित्व बहुत से हैं; व्यक्तित्व एक तो हैं नहीं, यदि हैं भी तो इक्के-दुक्के। होना तो अक्सर हो जाता है; वह एक कुदरतन घटना है; किन्तु प्रासंगिक या सार्थक होना काफी कठिन होता है। आज जो लोग समाज की विभिन्न कुर्सियाँ भरे हुए हैं, वे करीब-करीब अप्रासंगिक और बेमानी हो गये हैं। उन्हें उन पर बने या जमे रहने का कोई हक़ नहीं है; किन्तु वे हैं और पूरी बेशर्मी से उन पर हैं। कुछ इसलिए हैं चूँकि उनके पास बेशुमार दौलत है। उन्हें जब जरूरत होती है, या लगता है कि कुर्सी खतरे में है तब वे उसकी तलछट को उलीच देते हैं और अपनी कुर्सी सुरक्षित कर लेते हैं। वे कुछ/नाकुछ देते ही तब हैं, जब उन्हें यह भरोसा हो जाता है कि उनके इस दान से (जो बहुधा दिखावा होता है), उनकी कुर्सी पर आँच नहीं आ पायेगी वना राम कहिये वे एक कौड़ी खरचना भी पसंद नहीं करेंगे। असल में आज हमारा सामाजिक नेतृत्व जिस क्रिस्म और क्वालिटी का है उस पर हमें बहुत ठण्डे दिमाग से विचार करना चाहिये। देखना चाहिये कड़ी छानबीन के साथ कि जो लोग जिस अदा से नेतृत्व कर रहे हैं वह निष्कपट है या उसकी पृष्ठ-भूमि पर कोई चालबाजी है?

नेतृत्व का सबसे पहला गुण होना चाहिये—सेवा/निष्काम सेवा/कामना-रहित सेवा/सेवा-के-विनिमय-में-कुछ-मिले इस भावना-से-रहित सेवा। हम पूछ देखें कैलेंडर की तारीखों से कि वे ऐसे निष्काम व्यक्तियों-की-प्रतीक्षा में किस क्रम में प्यासी बनी रहती हैं? जिनमें निष्काम सेवा का करार है बदकिस्मती से उनके पास साधन नहीं हैं, और जिनके पास साधन हैं उनके पास वह कशिश और करार नहीं है।

निष्काम चित्त और प्रचुर वित्त दोनों एक साथ हों, यह मुश्किल है; यह/ऐसा कठिन भले ही हो किन्तु असंभव नहीं है; क्योंकि इतिहास को ऐसी विभूतियों ने धन्य किया है, जिन्होंने समाज की समर्पित भाव से सेवा की है और जिस ओर एक बार गये हैं उस ओर फिर दूसरी बार इसलिए क्रम नहीं रक्खा कि वहाँ के लोग उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करेंगे। ऐसे लोग अभिनन्दन और स्वागत-अभ्यर्थन के लोभी नहीं होते बल्कि कर्तव्य-की-भावना से सेवा करते हैं। आज यह संस्कार लुप्त हो गया है। आज हमारा सामाजिक नेतृत्व इस भावना से खाली पड़ गया है। आज जब हम जिस भी सामाजिक नेता से मिलते हैं तब लगता है जैसे वह कोई शरद् ऋतु का मेघ है, या कोई खाली-ढँका-हुआ घड़ा है और अपने भरे होने का विश्वास दिला रहा है। आज ज्यादातर सामाजिक कुसियाँ निर्जल बादल की तरह हैं; वे गरजती हैं, किन्तु बरसने या बरसाने के लिए उनके पास कुछ है नहीं। क्या हम इन कुसियों-के-खाली-होने-का-एहसास कभी कर पायेंगे?

ये कुसियाँ किसिम-किसिम की हैं। कार्यकर्ता की कुर्सी, नेता की कुर्सी, साधु की कुर्सी, लेखक की कुर्सी, संपादक की कुर्सी, प्रकाशक की कुर्सी, पंडित की कुर्सी; श्रावक की कुर्सी, श्राविका की कुर्सी। ये सारी कुसियाँ भरी हुई हैं, ये तमाम कुसियाँ खाली हैं। अजीब बात है कि कुसियाँ भरी हुई हैं, कुसियाँ खाली हैं। जी हाँ, है वैसा। इस अन्तर्विरोध का; किन्तु; जब तक हम सही एहसास नहीं करेंगे तब तक कोई सामाजिक परिवर्तन हो, यह असंभव है। देखिये न : युवक की कुर्सी खाली है, बुजुर्ग की कुर्सी खाली है; आदर्श की कुर्सी खाली है, मानकत्व की कुर्सी खाली है—तमाम कुसियाँ दीखती भरी हैं; किन्तु हैं खाली। दूर से लगता है कि इन कुसियों पर कोई आसीन है; किन्तु पास पहुँचते ही भ्रम टूट जाता है और यथार्थ सामने आ जाता है। आप ही बतायें कि क्या अन्दर-से-रिक्त लोग किसी कुर्सी को भर सकते हैं? ऐसे लोग जिनका अपना कोई आदर्श या उसूल नहीं है, किसी कुर्सी को भर सकते हैं? क्या ऐसे लोग जिनका धन्या कुछ और जीवन कुछ है, किसी कुर्सी को भर सकते हैं? क्या ऐसे लोग जिनका साध्य कुछ और साधन कुछ है, किसी कुर्सी को गौरवान्वित कर सकते हैं? क्या ऐसे लोग जो दुकान या दफ्तर में कुछ, मन्दिर में कुछ, और घर में कुछ हैं, किसी कुर्सी को भर सकते हैं? क्या ऐसे लोग जिनकी कथनी-करनी में फर्क है किसी कुर्सी के उनके द्वारा भरे होने का एहसास करा सकते

हैं? क्या ऐसे लोग जो यह कहते हैं कि 'भाई मैं तो नाम मात्र को कुर्सी पर हूँ; बाकी काम तो मेरा लड़का/भाई/भतीजा करता है अतः मैं कुछ कर नहीं पाऊँगा' किसी कुर्सी को ठीक से भर सकते हैं? तय है कि ये लोग या इस क्रिस्म के लोग कुर्सियों को विभूषित नहीं करते, उन्हें अपवित्र और प्रदूषित करते हैं।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद से हम महसूस करते रहे हैं कि ऐसा कुछ हुआ है जो क्रमशः और शनैःशनैः हमारी पकड़ से निकल गया है। इससे पहले कुछ था जो हमें वजनी बनाये हुए था; किन्तु क्रमशः ऐसा कुछ हुआ है जिसने हमें लगभग खत्म या खाली कर दिया है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक से बीसवीं सदी के चौथे दशक तक जैनों का ऐसा किर्दार था कि लोग उन्हें सम्मान और विश्वास की भावना से देखते थे; उनकी बात मानते थे, उनसे संकट में सलाह लेने आते थे; किन्तु इसके बाद ऐसी कुछ गिरावट आयी कि जैन शब्द जैनत्व से खाली पड़ गया। कहने को जैनधर्म है, उसकी मौलिकता के कुछ खंडहर मंदिरों/तीर्थों के रूप में मौजूद हैं; किन्तु जैन चरित्र में जो पानी था वह खत्म हो गया है, पूरी तरह चुक गया है।

मूर्तियाँ हैं; किन्तु वे जिस अर्हन्तत्व की प्रतीक मानी जाती हैं उसकी स्फुरणा करने में अब वे असमर्थ हैं। कर्मकाण्ड ने उनमें-से वह गुण छीन लिया है। मूर्ति भी असली मूर्तिमान्से उसी तरह रिक्त हुई है जिस तरह जैन जैनत्व से, मंदिर मंदिरत्व से, स्थानक स्थानकत्व से, उपाश्रय उपाश्रयत्व से। इनकी असली दीवारें ढह गयी हैं और इर्दगिर्द नकली/कमजोर दीवारें उठ खड़ी हुई हैं। आप ही सोचें कि क्या ऐसी कोई अग्नि हो सकती है, जिसमें अग्नित्व न हो; किन्तु अग्नि भले ही वैसी हो, न हो जैन ऐसा अवश्य है जिसमें जैनत्व अब नहीं है।

जो लोग समाज में विभिन्न कुर्सियों पर हैं, वे होने को हैं, असल में उनमें कोई दम-वम है नहीं। ऊपर से भरे; किन्तु भीतर से रीते लोग कितने दिनों तक किसी समाज का नेतृत्व कर सकते हैं? देखिये न : पण्डित नेतृत्व से खाली है, नेता पाण्डित्य से खाली है। ऐसा कोई रास्ता नहीं है कि पण्डित के हाथ में समाज-का-सूत्र आये और जो नेतृत्व है उसे जैनधर्म की प्रथम श्रेणी की समझ देना संभव हो। असलियत यह है कि आज हमारे नेतृत्व को जैनधर्म/दर्शन का ककहरा भी ज्ञात नहीं है। वह सिर्फ नेता बने रहने की तृष्णा में भाषणवाजी करता है, या इस-उस साधु को दण्डवत करता है; और मौके-का-लाभ उठाने के लिए अपने उस धन को दान में डालता है, जो उसके लिए लगभग गैरजरूरी है। यदि आप किसी जैनुइन काम के लिए इन/ऐसे लोगों से धन माँगेंगे तो वे सी हीले-हवाले करेंगे और एहसान जतायेंगे। आज न तो असली सेवा की पहिचान है और न ही ऐसे लोगों का जो सेवा में जुटे हुए हैं, कोई सम्मान है। आज से कुछ दशक पूर्व समाज-सेवी के लिए जो सम्मान था, वह अब मात्र औपचारिक रह गया है। हमारे तमाम मानक बदल

गये हैं। हमारे पास अब ऐसा कोई स्वस्थ पैमाना नहीं है, जो समाज-सेवा का अनासक्त मूल्यांकन कर सके।

ऐसे कई समाज-सेवियों को हमने देखा है, जो धार्मिक कार्यों को कैसे भी/किसी भी साधन से करने-कराने में न सिर्फ अपनी शान समझते हैं बल्कि ऐसा करने में विश्वास करते हैं। भ्रष्टाचार के माध्यम से काम कराने में उन्हें कोई शर्म/क्षिन्नक महसूस नहीं होती। उनके सामने सिर्फ साध्य होता है, साधन के बारे में वे सोचते ही नहीं हैं। इन्हीं समाज-सेवियों के मुंह से कहते सुना है कि 'क्या करें साब, युग जैसा है, वैसा करना होता है'। हम कहते हैं धर्म वह है जो युग-कानेतृत्व करे, जो युग-नेतृत्व में अपने शाश्वत मूल्यों को तहस-नहस करने को तैयार हो पड़े उसे न बो हम धर्म कह सकते हैं और न ही धार्मिक। हम देख रहे हैं चारों ओर ऐसे जलाशय जिनमें पानी नहीं है; हमारे चारों ओर ऐसे लोग हैं जिनके कोई आदर्श या प्रतिमान नहीं है। वे हैं; किन्तु क्यों, किस तरह, किसलिए हैं, यह उन्हें स्पष्टतया मालूम नहीं है।

आज चारों ओर एक अजीबोगरीब खालीपन का एहसास होता है। स्वाध्याय है, स्वाध्यायी नहीं है; किताब है, पाठक नहीं है; पत्र-पत्रिकाएँ हैं, संपादक नहीं है; मंदिर है, मर्यादाएँ नहीं हैं—चारों ओर दूर-दूर तक रिक्तताएँ बिछी पड़ी हैं—क्या इन्हें हम कभी भर पायेंगे ?

स्वाध्याय के लिए निरन्तर ग्रन्थ प्रकाशित हैं; किन्तु उनके प्रकाशन का उद्देश्य क्या है इसकी समीक्षा जब हम करने को होते हैं, तो हमारी आँखें उघड़ जाती हैं। तब हमें लगता है कि वहाँ भी हम खाली हो गये हैं। पुस्तक के प्रकाशन/संपादन में भी किन्हीं लोगों के निहित स्वार्थ होते हैं। देखा गया है कि प्रायः उन लोगों के अभिनन्दन-ग्रन्थ—बहुत महँगे और खूब सजधज के साथ—प्रकाशित होते हैं, जिनका कोई योगदान नहीं होता (योगदान के किस्से घड़ने होते हैं)। सिर्फ प्रशंसा के लिए ही इन ग्रन्थों की आयोजना की जाती है और टनों कागज बर्बाद किया जाता है। भारी-भरकम पोथने प्रकाशित कर आखिर हम करना क्या चाहते हैं—पता नहीं? किन्तु जो हो हम किन्हीं वैयक्तिक (सामाजिक नहीं) कारणों से ही धन का दुरुपयोग करते हैं—उस धन का जो समाज का अन्तिम आदमी/आम आदमी साधु के कदमों में या तीर्थ-वन्दना-के-लक्ष्य-से बड़ी आस्था से डाल जाता है। कुल मिला कर हमारे लक्ष्य इतने खाली और ओछे-उथले हो गये हैं कि न तो हम व्यक्ति-के-उत्थान के लिए कुछ कर पा रहे हैं और न ही सामाजिक-प्रगति-के-लिए।

आदर्श-से-खाली बेजान लोगों के बीच चलना कुछ ऐसा समझिये जैसे कन्नस्तान की कब्रों से अचानक उठी लाशों के बीच चला जा रहा है। कई बार लाशें फिर

(शेष पृष्ठ २९ पर)

आचार्य धरसेन की चिन्ता और श्रुत-संरक्षण का दायित्व-बोध

प्राचीन भारतीय यात्रापथ-विषयक अनुसन्धान-कार्य हुए हैं। देश-भाषाओं और बोलियों के सर्वेक्षण हुए हैं। सांस्कृतिक संबन्धों पर भी कार्य हुआ है; परन्तु इन सबमें जैन स्रोतों का उपयोग नहीं हो सका। जैन परम्परा की दृष्टि से उपर्युक्त तथ्यों को खोजने की दृष्टि भी नहीं रही। अनुसन्धान-सामग्री को समग्रता में देखने पर ज्ञात होता है कि मथुरा-से-सौराष्ट्र तक और वहाँ से मध्यप्रदेश होते हुए दक्षिण भारत तक ऐसे यात्रापथ मौजूद थे, जिनका उपयोग व्यापारी, तीर्थयात्री, और नागरिक करते थे। संभवतया ये तमाम पथ राजमार्गों से भी जुड़ते थे। यदि इन/ऐसे तथ्यों की गहन पड़ताल की जाए तो इनके आलोक में भूगोल, इतिहास, संस्कृति, परम्परा, भाषा और बोलियों-विषयक भारत की प्राचीन भ्रमण-धारा के इतिहास के नये पक्ष उद्घाटित होंगे।

—डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

‘षट्खण्डागम’ की ‘धवलाटीका’ और ‘कसायपाहुड’ की ‘जयधवला’ टीका में तथा इन्द्रनन्दि कृत ‘श्रुतावतार’ में श्रुत-संरक्षण के लिए आचार्य धरसेन की चिन्ता का मार्मिक प्रसंग निबद्ध है। आचार्य धरसेन की चिन्ता और दायित्व-बोध का ही सुफल है कि ‘कसायपाहुड’ और ‘षट्खण्डागम’ जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थ वर्तमान पीढ़ी को उपलब्ध हो सके। श्रुत-संरक्षण की वर्तमान स्थिति में उस प्रसंग की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस प्रसंग में अनेक ऐसे बिन्दु हैं, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। अनुसन्धान के कई नवीन स्रोतों के सन्दर्भ इसमें समाहित हैं। संक्षेप में प्रसंग इस प्रकार है: आचार्य धरसेन सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में स्थित थे। उन्हें सभी अंगों और पूर्वी का एकदेश ज्ञान आचार्य-परम्परा से प्राप्त था। वे षष्ठांग महानिमित्त के पारगामी थे। जब वे बहुत वृद्ध हो गये और जब उन्होंने अपना जीवन अत्यल्प देखा, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि अवसर्पिणी काल के प्रभाव से श्रुतज्ञान का दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जाता है। इस समय मुझे जो कुछ श्रुत प्राप्त है, उतना भी आज किसी को नहीं है। यदि मैं अपना श्रुत दूसरे को नहीं सँभलवा सका तो यह भी मेरे साथ ही समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार की चिन्ता से और श्रुत-संरक्षण के वात्सल्य से प्रेरित हो कर उन्होंने उस समय दक्षिणापथ की महिमानगरी में हो रहे साधु-सम्मेलन के पास एक पत्र भेज कर अपना अभिप्राय व्यक्त किया। सम्मेलन में समागत प्रधान आचार्यों ने आचार्य धरसेन के पत्र को बहुत गंभीरता से लिया तथा श्रुत के ग्रहण और धारण में समर्थ शील-रूप माला के धारक; देश, कुल, और जाति से शुद्ध, सकल कलाओं में पारंगत दो योग्य साधुओं को आन्ध्र देश में बहने वाली वेणा नदी के तट से धरसेनाचार्य के पास भेजा।

जिस दिन ये दोनों साधु गिरिनगर पहुँचने वाले थे; उसकी पूर्व रात्रि में आचार्य धरसेन ने स्वप्न में देखा कि धवल और विनम्र दो बैल आ कर उनके चरणों में प्रणाम कर रहे हैं। स्वप्न देखने के साथ ही आचार्य की निद्रा भंग हो गयी और वे 'श्रुतदेवता जयवन्ती रहे' ऐसा कहते हुए उठ कर बैठ गये। उसी दिन दोनों साधु आचार्य धरसेन के पास पहुँचे और अतिहर्षित हो उनकी चरण-वन्दना आदि कृतिकर्म सम्पन्न किया। मार्ग का श्रम दूर होने पर तीसरे दिन दोनों साधुओं ने अपने आगमन का प्रयोजन आचार्य से निवेदित किया।

आचार्य धरसेन ने समागत दोनों साधुओं की योग्यता और क्षमता की परीक्षा के उद्देश्य से उन्हें विद्याएँ सिद्ध करने के लिए दो मन्त्र दिये। एक मन्त्र 'हीनाक्षर' था तथा दूसरा 'अधिकाक्षर' था। दोनों साधु गुरु से मन्त्र-विद्या ले कर साधना करने लगे। साधना के प्रतिफल-स्वरूप उन्हें विद्याएँ सिद्ध हुई; किन्तु दोनों विद्या-देवताओं का रूप विकृत था। एक देवी के दाँत बाहर निकले थे तथा दूसरी कानी थी। 'देवता विकृत अंग वाले नहीं होते' ऐसा विचार कर दोनों साधुओं ने मन्त्रों को मन्त्र-व्याकरण से जाँचा और हीनाधिक अक्षरों को शुद्ध करके पुनः विद्याओं को सिद्ध किया तो दोनों विद्या-देवियाँ अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुईं। विद्या-सिद्धि के उपरान्त दोनों साधु आचार्यश्री के पास पहुँचे और उनके समक्ष पूरा वृत्तान्त निवेदित कर दिया। संतुष्ट हो कर आचार्य धरसेन ने शुभ तिथि में उन्हें ग्रन्थ का व्याख्यान देना आरम्भ किया। क्रमशः व्याख्यान करते हुए आचार्य ने आषाढ शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न में ग्रन्थ समाप्त किया।

दोनों साधुओं ने गुरु से ग्रन्थ का विनय-पूर्वक अध्ययन सम्पन्न किया है, यह जान कर देवों ने उनकी पूजा की। आचार्य धरसेन ने उनका क्रमशः भूतबली और पुष्पदन्त नामकरण किया। अपनी मृत्यु को अति सन्निकट जान कर तथा यह सोच कर कि इन्हें मेरे वियोग से क्लेश न हो, आचार्य ने दोनों साधुओं को उसी दिन वापिस जाने का आदेश दिया। दोनों साधु उसी दिन वहाँ से चल दिये और अंकलेश्वर (गुजरात) में आ कर वर्षावास किया।

वर्षायोग समाप्त होने पर पुष्पदन्त जिनपालित के पास वनवासी देश चले गये और भूतबली द्रमिल देश को चले गये। पुष्पदन्त ने बीस प्ररूपणार्गभित 'सत् प्ररूपणा' के सूक्तों की रचना की और जिनपालित को दीक्षा दे कर उन्हें वे सूक्त पढ़ाये। इसके बाद जिनपालित को भूतबली के पास भेजा। भूतबली ने जिनपालित के पास वे सूक्त देखे तथा उन्हीं से यह जाना कि पुष्पदन्त की अल्प आयु शेष है। उन्हें 'महाकर्मप्रकृति प्राभूत' का विच्छेद हो जाने की आशंका हुई। यह विचार कर भूतबली ने द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि ले कर आगे के ग्रन्थ की रचना की।

भूतबली द्वारा ग्रन्थ-रचना जब पुस्तकारूढ़ हो चुकी, तब ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ ने समारोह-पूर्वक श्रुत-पूजा की। तभी से यह तिथि 'श्रुत पंचमी' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

भूतबली ने अपने द्वारा रचित और पुस्तकारूढ़ षट्खण्डरूप आगम को जिन-पालित के हाथ पुष्पदन्त के पास भेजा। वे इस 'षट्खण्डागम' को देख कर और अपने द्वारा आरम्भ किये कार्य को भलीभाँति सम्पन्न हुआ जान कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी इस सिद्धान्त-ग्रन्थ की चतुर्विध संघ-सहित पूजा की।

श्रुतावतार का जितना विवरण आचार्य वीरसेन और इन्द्रनन्दि ने दिया है, उसके कुछ विशेष अंश ही ऊपर दिये गये हैं। दिगम्बर परम्परा में आगमों के पुस्तकारूढ़ होने का यह प्राचीनतम सन्दर्भ है। इस कथा के कतिपय बिन्दुओं से अनुसन्धान के कई महत्वपूर्ण सन्दर्भ-संकेत उभरते हैं—

(१) आचार्य धरसेन का श्रुत-संरक्षण के लिए चिन्तित होना और श्रुत-ज्ञान का दाय सौंपने के लिए साधु-संघ से योग्य शिष्यों को भेजने का अनुरोध करना।

(२) दक्षिण की महिमानगरी में आयोजित साधु-सम्मेलन के आचार्यों द्वारा धरसेनाचार्य की चिन्ता को गंभीरता से लेना और दो प्रबुद्ध युवा साधुओं को उनके पास भेजना।

(३) आन्ध्रप्रदेश की वेणा नदी के तट से चल कर दो साधुओं का सुदूर सौराष्ट्र प्रदेश पहुँच कर धरसेन से श्रुत-ज्ञान ग्रहण करना।

(४) मन्त्र-सिद्धि के 'हीनाक्षर' और 'अधिकाक्षर' प्रसंग द्वारा सिद्धान्त-शास्त्र के अखण्ड शुद्ध होने पर बल देना।

(५) पुष्पदन्त तथा भूतबली द्वारा दक्षिण लौट कर षट्खण्डागम की रचना करना।

(६) चतुर्विध संघ द्वारा श्रुत की पूजा-अर्चना करना।

(७) वर्तमान में सिद्धान्त-शास्त्र और उसके ज्ञान के संरक्षण का दायित्व-बोध।

आचार्य धरसेन ने गिरनार (सौराष्ट्र) से सुदूर दक्षिण के साधु-संघ को संदेश भेजा। आन्ध्रप्रदेश की वेणा नदी के तट से दो साधु उनके पास गिरनार आये। अध्ययन के बाद पुष्पदन्त वनवासी देश और भूतबली द्रमिल देश वापस लौटे। यह सन्दर्भ सौराष्ट्र से आन्ध्र, तमिल तथा कर्णाटक प्रदेश के यात्रा-पथ का स्पष्ट संकेत देता है। पुष्पदन्त और भूतबली की आन्ध्र से सौराष्ट्र तक तथा वापिस वनवासी और द्रमिल देश की सकुशल यात्रा विषयक अनुसन्धान से जैन श्रमण-परम्परा के इतिहास के अनेक नये तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं। तीन सन्दर्भों की

और हम विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं : १. दिगम्बर साधुओं की इतने लम्बे मार्ग की पद-यात्रा यात्रा-पथ में श्रावक-संघ की अवस्थिति को ज्ञापित करता है। २. इससे पश्चिमोत्तर भारत से ले कर सुदूर दक्षिण तक के व्यापक सांस्कृतिक संबंधों का पता चलता है। ३. श्रुतज्ञान के साथ ही देश-भाषाओं की यात्रा-कथा इससे उजागर होती है।

प्राचीन भारतीय यात्रा-पथ-विषयक अनुसन्धान-कार्य हुए हैं। देश-भाषाओं और बोलियों के सर्वेक्षण हुए हैं। सांस्कृतिक संबंधों पर भी कार्य हुआ है; परन्तु इन सब में जैन स्रोतों का उपयोग नहीं हो सका। जैन परम्परा की दृष्टि से उपर्युक्त तथ्यों को खोजने की दृष्टि भी नहीं रही। अनुसन्धान-सामग्री को समग्रता में देखने पर ज्ञात होता है कि मथुरा-से-सौराष्ट्र तक और वहाँ-से-मध्यप्रदेश होते हुए दक्षिण भारत तक ऐसे यात्रापथ मौजूद थे, जिनका उपयोग व्यापारी, तीर्थयात्री, और नागरिक करते थे। संभवतया ये पथ राजमार्गों से भी जुड़ते थे। ताम्रलिपि, विजयावती हो कर समुद्र-यात्रा करने वाले सार्थवाहों के सन्दर्भ मिलते हैं। गुर्जर प्रतिहार, पाण्ड्य, चोल, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि नरेशों के पारस्परिक संबंधों के साक्ष्य उपलब्ध हैं। मध्यदेश की बोलियों में मथुरा-शूरसेन देश की प्राचीन बोलियों के शब्दों की प्रचुरता अभी तक विद्यमान है। ऐसे तथ्यों के आलोक में भूगोल, इतिहास, संस्कृति, परम्परा, भाषा, और बोलियों-विषयक गहन अनुसन्धान से भारत की प्राचीन श्रमण-धारा के इतिहास के नये पक्ष उद्घाटित होंगे। तब यह भी पता चलेगा कि अशोक ने गिरिनार के शिलालेख मथुरा-शूरसेन की बोली में क्यों खुदवाये? देश, काल और लिपि के बन्धनों को तोड़ कर शूरसेन की बोलियों में संकलित श्रुतज्ञान को ताडपत्रों पर तमिल और कन्नड़ लिपियों में कैसे उकेरा गया? वह कौन-सी प्रेरणा थी, कौन-सा दायित्व-बोध था, जिससे पत्तों में सँजोये श्रुतज्ञान को हजारों वर्षों तक शास्त्र-भण्डारों में सुरक्षित रखा गया?

श्रुतावतार कथा का मन्त्र-सिद्धि वाला प्रसंग इस तथ्य को स्पष्टतया उद्घोषित करता है कि सिद्धान्त-शास्त्रों में अक्षर-मात्रा कमोबेश होने पर इष्ट-प्रयोजन-की-सिद्धि नहीं हो सकती। सिद्धि होगी भी तो विकृति ही हाथ लगेगी। आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबली की क्षमता की परीक्षा ली। उन्हें चिन्ता थी कि सिद्धान्तों का ज्ञान गलत हाथों में चला गया तो अनर्थकारी हो सकता है। भद्रबाहु द्वारा पूर्वी का ज्ञान स्थूलिभद्र को देने का प्रसंग वे बिसरे नहीं थे। शायद यही कारण था कि वे वृद्धावस्था तक अंगों और पूर्वी के अपने ज्ञान को अपने में ही सँजोये रहे। सौभाग्य से उन्हें पुष्पदन्त और भूतबली जैसे सुयोग्य शिष्य मिले। पुष्पदन्त भी अद्भुत, कि बीस सूक्त बना कर अपने गुरु भाई भूतबली के पास देखने के

लिए भेज दिये, जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि कहीं कोई भूल-चूक तो नहीं रह गयी। इस सन्दर्भ में प्राचीन आचार्यों और उनके टीकाकारों के कतिपय सन्दर्भ दिशा-बोधक हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द बार-बार कहते हैं कि श्रुतकेवली ने जो कहा, मैं वही कह रहा हूँ। इतने पर भी वे निःसंकोच कहते हैं कि यदि भूल-चूक हो जाए तो इसे छल नहीं समझें—‘चुक्केज्ज छलं न घेतत्त्व’। इतना बड़ा आचार्य और इतनी विनम्र ईमानदारी। आचार्य वीरसेन ‘कसायपाहुड’ और ‘षट्खण्डागम’ की टीका लिखने लगे तो उन्हें आर्य मंक्षु और नागहस्ति की दो परम्पराएँ मिलीं। उन्होंने पूरी ईमानदारी से दोनों का उल्लेख कर दिया। कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेन जब टीका लिखने लगे, तब उन्होंने एक-एक ग्रन्थ की कई-कई पोथियाँ सामने रखीं। उन्होंने पाया कि उनमें अन्तर है। पाठ-भेद हैं। गाथाएँ कम-ज्यादा हैं। उन्होंने अपनी टीकाओं में इस तथ्य को समायोजित किया।

जहाँ एक ओर इतनी ईमानदारी बरती गयी, वहीं प्राचीन काल में भी कुछ दुर्बुद्धि पण्डिताचार्यों ने प्राचीन पारम्परिक गाथाओं के मन-माने संकलन किये। अपने विचारों-धारणाओं को उनमें प्रक्षिप्त किया; और यदि टीका लिखी तो जी-चाही व्याख्या की। प्राचीन शब्दावली के ठीक अर्थ समझ में नहीं आये तो नयी-नयी व्युत्पत्तियाँ जड़ दीं। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन-अनुसन्धान में ऐसे ग्रन्थों, टीकाओं ने भारी भ्रम उत्पन्न किये। स्व. पण्डित नाथूराम प्रेमी, जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आ. ने. उपाध्ये आदि विद्वानों का ध्यान ऐसे तथ्यों की ओर गया और उन्होंने परिश्रम-पूर्वक इसे जाँचा-परखा। हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रकाशन कराया। जहाँ तक संभव हुआ एक ग्रन्थ की कई-कई पाण्डुलिपियों का मिलान करके पाठ शुद्ध करने के प्रयत्न किये। जिन ग्रन्थों की एक ही प्रति मिल सकी, जिनके संशोधन के लिए कोई अन्य आधार नहीं मिल पाया, उसे यथाशक्य शुद्ध करके छपवाया।

प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन और पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धतियों का पर्याप्त विकास हुआ है। डॉ. उपाध्ये प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन-के-महारथी माने जाते थे। उनके द्वारा सम्पादित ‘प्रवचनसार’ तथा उसकी ‘प्रस्तावना’ आदर्श माने जाते हैं। इतना होने पर भी उन्होंने ‘प्रवचनसार’ के मूल पाठ को समालोचनात्मक तरीके से गठित करने की अपेक्षा व्यक्त की है। सोनगढ़ के परमागम मंदिर में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को जब संगमर्मर पर उकेरा गया तब भी डॉ. उपाध्ये से परामर्श लिया गया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। इस सबके बाद भी उन्होंने और अधिक प्राचीन प्रतियों के आधार पर मूल ग्रन्थों के पाठालोचन की अपेक्षा की है।

विगत वर्षों में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अनुसन्धाता-अध्येताओं को यह देखना अपेक्षित है कि इन संस्करणों में कितनी और अधिक प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया और पाठालोचन के सिद्धान्तों का कितना अनुसरण किया गया।

‘कसायपाहुड’ और ‘षट्खण्डागम’ की प्राचीन प्रतियाँ अभी तक सिद्धान्तवसदि, मूडबिद्री की, हळ्केकन्नड लिपि में लिखित ताडपत्रीय प्रतियों के अतिरिक्त उपलब्ध नहीं हुईं। दोनों ग्रन्थों के प्रकाशन का मूल आधार मात्र ये ही प्रतियाँ हैं। पाठालोचन की दृष्टि से भिन्न काल, और परम्परा और लिपि की पाण्डुलिपियों का विशेष महत्त्व है। सौभाग्य से कुन्दकुन्द, समन्तभद्र आदि महान् आचार्यों के ग्रन्थों की प्राचीन प्रतियाँ उत्तर तथा दक्षिण भारत में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। विदेशों में भी कुछ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इनका उपयोग करते हुए मानक संस्करणों की अपेक्षा आज भी है। प्राचीन आचार्यों और श्रुतधरों के उपकार का स्मरण करते हुए श्रुत पंचमी के अवसर पर हम वर्तमान आचार्यों, विद्वानों और प्रबुद्ध भावकों से अपेक्षा करते हैं कि वे आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों की तरह श्रुत-संरक्षण के दायित्व का निर्वाह करें; और इस सांस्कृतिक विरासत को नयी पीढ़ी तक संचारित करने का प्रशस्त पथ निर्मित करें। प्राचीन ग्रन्थों का जो अशुद्धि-बहुल प्रकाशन हो रहा है, शास्त्र-भण्डारों में पोथियों की जो दुर्व्यवस्था है, अध्ययन-अनुसन्धान-कार्य की जो स्थिति है, उसकी समीक्षा आवश्यक है।

आचार्य धरसेन ने श्रुत-संरक्षण के लिए नयी पीढ़ी को श्रुतज्ञान हस्तान्तरित करने की प्रशस्त परम्परा प्रवर्तित की। विभिन्न आचार्यों, साधु-सन्तों ने श्रुतज्ञान को पुस्तकारूढ़ करने के यथाशक्य प्रयत्न किये, और श्रावक-संघ ने हजारों वर्षों तक उनकी प्रतिलिपियाँ करवा कर उनका प्रसार किया तथा शास्त्र-भण्डारों में उनकी सुरक्षा की। इसी का सुफल है कि आज ‘कसायपाहुड’ और ‘षट्खण्डागम’ जैसे हजारों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सुरक्षा में जो भूल-चूक हुई, या कभी आयी, उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अनेक शास्त्र नष्ट हो गये। आज हमें पुनः अपने दायित्व का, श्रुत-संरक्षण की स्थिति का लेखा-जोखा ले कर देखना होगा कि जो हम कर रहे हैं, दूसरे कर रहे हैं, जो चाहे-अनचाहे हो रहा है, उससे आगे की पीढ़ियों तक हम कितना-क्या श्रुतज्ञान संचारित कर सकेंगे? □

तुम : मरो मत, जियो

बहुत समय की बात है। वाराणसी में एक संत रहते थे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने सारे धर्म-ग्रंथों का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था। दूर-दूर से लोग उनके पास पढ़ने, या अपनी शंकाओं का समाधान करने आते रहते थे।

संत का हृदय प्रेम से छलछलाता रहता था। कृष्ण की धारा बहती रहती थी। जो भी आता था, उसका वे दिल खोल कर स्वागत करते थे और उसकी सहायता करते थे। उनके चेहरे पर हर घड़ी मुस्कराहट खेलती रहती थी।

एक दिन एक युवक संत से मिलने आया। वह संस्कृत का विद्वान् था। उसके नाम के साथ संस्कृत की बहुत-सी उपाधियाँ जुड़ी थीं। उसके चेहरे से विद्वत्ता-का-दर्प झलक रहा था। वह शास्त्रार्थ करने आया था।

उसने संत को सूचना दी और शास्त्रार्थ के लिए उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। युवक, युवक था। उसका ज्ञान संत के समान परिपक्व नहीं था। उसने जी-जान से प्रयत्न किया; किन्तु संत के आगे वह ठहर नहीं सका, पराभूत हो गया।

युवक इसके लिए तैयार नहीं था। उसे तो अपने ज्ञान का इतना अभिमान था कि वह अपने को अजेय मान बैठता था। इस पराजय से उसे इतनी चोट लगी कि उसने आत्मघात करने का निश्चय कर लिया।

संत को पता चला तो वे आहत हो गये। सोचने लगे कि ऐसी जीत किस काम की, जो दूसरों को प्राण देने के लिए प्रेरित करे? नहीं-नहीं, यह तो जीत नहीं, हार है।

उन्होंने युवक को तत्काल बुलाया और बड़े प्यार से समझाया — “मनुष्य को अपने प्राणों का हनन करने का अधिकार नहीं है। बीर पुरुष कभी अपघात नहीं करते। यह तो कायरों का काम है। तुम मरो मत, जियो।”

इसके बाद संत ने जो किया, उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। उन्होंने अपने मुँह पर काष्ठ बाँध लिया और शास्त्रार्थ को तो सदा के लिए तिलांजलि दे दी।

आगे चल कर वे ‘काष्ठ-जिह्वा-स्वामी’ के नाम से विख्यात हुए।

—यशपाल जैन

एक विचार-क्षण

विचार :

बहुत से आये
आये, चले गये ।

चले गये

मेरे स्वभाव से बिना मिले ।

बनाये

शुभ भाव शोभने

अनेक बार ;

निजता उनमें न मिली

चले गये/वि भी ।

मेरे विचार शुभाशुभ

न हुए मेरे ही ;

पर-भाव कैसे रहें ?

जब

अपने चले गये ।

वक्त अब भी है

ठान ले अब भी

क्षण-क्षण सँभाल

सँभल/दिख

क्षण कितने चले गये ?

निर्वाण : फिर निर्माण क्यों ?

किन्तु इस क्रिया के समर्थक कर्मकाण्डी निर्वाण-के-पश्चात् जो नख-केश रह जाते हैं, उन्हें ही दाह करना बताते हैं; लेकिन दाह-संस्कार तो शरीर का किया जाता है। नख-केश शरीर नहीं हैं। यदि वे शरीर होते तो शरीर के साथ उनका भी विलय हो जाता।

—आनन्दकुमार जैन

मुनिराज के जब आत्मा और शरीर का वियोग होता है, तब आत्मा तो अन्य गति को प्रस्थान कर जाता है और शरीर वहीं पड़ा रहता है। इसे 'मरण' कहते हैं। मरण की यही चरम सीमा है। तीर्थंकर के निर्वाण होने की सिद्धि तो गर्भ में आने के पूर्व ही रत्नों की वृष्टि होने से हो जाती है। अन्तःकृत केवली (जिनका पूर्व में कोई पता नहीं होता है कि इनका 'मरण' होगा या 'निर्वाण') के आत्मा और शरीर का वियोग होने पर आत्मा तो लोकाग्र-वासी हो जाता है और शरीर के परमाणुओं का विलय हो जाता है। इसे निर्वाण कहते हैं।

जब निर्वाण होने पर अरहंत भगवान् का शरीर रहता ही नहीं (विलुप्त हो जाता है) तब निर्वाण-कल्याणक में इसके विरुद्ध उनके मायामयी शरीर का निर्माण कर दाह-संस्कार का दृश्य क्यों दिखाते हैं? जैसा कि पंचकल्याणक स्तुति में भी मायामयी तन का निर्माण और दाह-संस्कार का उल्लेख किया गया है; यथा- 'लघु पंचाक्षर गांही प्रभु गत सिद्ध गये, रहे केशनख तन परमाणु खिर गये। खिर गये तन परमाणु तब मायामयी तनु निरमये, चन्दन प्रमुख मुकुटाग्नि कर शुभ क्रिया कर सब सुर गये।' अथवा मात्र अग्नि प्रज्वलित करने का भी दृश्य क्यों दिखाया जाता है ?

ऐसा कार्य तो लोक-व्यवहार में भी नहीं होता, जैसे कोई जलयान समुद्र में डूब जाए तो उसमें बैठे हुए मनुष्य मर जाते हैं और उनका शरीर समुद्र में डूब जाता है, जब यह समाचार उनके परिजन सुनते हैं, तब वे न तो कल्पित शरीर ही बनाते हैं और न ही आग ईंधन ले कर श्मशान में जाते हैं; क्योंकि शरीर ही नहीं है, तब किसे दग्ध किया जाए।

किन्तु इस क्रिया के समर्थक कर्मकाण्डी निर्वाण के पश्चात् जो नख-केश शेष रह जाते हैं, उन्हें ही दाह करना बताते हैं; लेकिन दाह-संस्कार तो शरीर का किया जाता है। नख-केश शरीर नहीं हैं। यदि वे भी शरीर होते तो शरीर के साथ

तीर्थंकर : जुलाई ८८/१५

उनका भी विलय हो जाता । नख-केश शरीर नहीं हैं कि सिद्धि इस प्रकार से होती है—

(१) जिस प्रकार आँख, नाक, कान आदि से मल निकलता रहता है उसी प्रकार नख-केश भी धातुओं के मल रूप से बाहर निकलते रहते हैं । ऐसा शरीर-शास्त्र बतलाता है । (२) नख-केश जन्म से मरण काल तक बढ़ते रहते हैं । शरीर बाल्यकाल से युवाकाल तक बढ़ता है पश्चात् बढ़ना बन्द हो जाता है । (केवल-ज्ञान होते नख-केशों की वृद्धि रुक जाती है) । (३) शरीर के उपांग (अंगुली आदि), शरीर से अलग नहीं किये जाते, नख-केश काट, लौच कर पृथक् किये जाते हैं । (४) शरीर इन्द्रिय-रूप होता है और स्पर्शन इन्द्रिय सर्वाङ्ग होती है । किसी वस्तु के स्पर्श का ज्ञान उससे हो जाता है । स्पर्शन इन्द्रिय से बढ़े (दूर) हुए नख-केशों से स्पर्श का ज्ञान नहीं होता (५) शरीर में काँटा आदि के चुभने पर वेदन होता है, नख-केश काटने पर वेदन नहीं होता ।

तथा तप-कल्याणक में तीर्थंकर ने मुनिपद ग्रहण करने के लिए जिस औदारिक शरीर से नख-केश का लुंचन किया था, इन्द्र ने उन्हें बड़ी भक्ति से क्षीर-सागर में क्षेपण-हेतु रत्न-पिटारे में रखा था; किन्तु निर्वाण होने पर परमौदारिक शरीर से त्यक्त नख-केशों के प्रति इन्द्र को तप-कल्याणक के समान ही भक्ति नहीं रही, जो उन्हें जलाने लगे । मुनिराज के भी लौच किये हुए केश न तो कभी जलाये गये, और न जलाये ही जाते हैं, और न कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण ही है ।

शरीर-विलय के निम्न कारण हो सकते हैं : (१) आयु समाप्त होने पर शरीर-विलय हो जाने से उस जीव को सिद्ध होने की सिद्धि हो जाती है । (२) अरहंत अवस्था में परमौदारिक शरीर अन्तरिक्ष (अन्य पदार्थों से अस्पृष्ट हो जाता है । निर्वाण के बाद भी इन्द्र मनुष्य अग्नि-इंधन चेतन-अचेतन पदार्थों द्वारा स्पर्श न हो । (३) मुनि-अवस्था में जो शरीर षट्काय जीवों की रक्षा में निमित्त कारण रहा; निर्वाण के पश्चात् दाह-संस्कार से षट्काय के जीवों की विराधना उसके निमित्त न हो ।

किन्तु सिद्धान्त-विरुद्ध कार्य किये जा रहे हैं, अर्थात् शरीर को कल्पना कर बनाया जा रहा है कि देखो, अरहंत भगवान् का यह शरीर कहाँ विलय हुआ ? इन्द्र अग्नि-इंधन आदि स्पर्श कर रहे हैं । अस्पर्श रूप कहाँ रहा; तथा अग्नि द्वारा यह दाह किया जा रहा है, जिससे जीवों की विराधना भी हो रही है ।

भस्म जो मात्र इंधन से उत्पन्न हुई है, उसको भी पूज्यता या लौकिक कामना की दृष्टि से अन्य धर्मों के अन्धानुकरण रूप मस्तक पर धारण करने को क्रिया-रूप

से दृश्यमान करते हैं; जबकि उस भस्म में पूर्व पूज्य अरहंत देव के शरीर के परमाणु अंशमात्र भी नहीं हैं ।

शरीर के अभाव में यदि ऐसा कार्य किया जाए तब तो वह ऐसा ही कहलायेगा जैसे वर्तमान काल में किसी के नाम का पुतला जलाते हैं; जबकि उसके शरीर की उपस्थिति वहाँ नहीं रहती ।

एकाभवावतारी सम्यग्दृष्टि, अवधिज्ञानी इन्द्र ने ऐसे काल्पनिक सिद्धान्त-विरोधी कार्य नहीं किये होंगे अन्य धर्म की देन रूप से रंजित कर्मकाण्डी जनों ने ग्रन्थ रचना कर कर्मकाण्डी क्रियाएँ प्रचलित और प्रसारित की हैं ।

यदि लोक-व्यवहार में शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया को दृश्य रूप में दिखाना ही है, तो मुनि-अवस्था तक मृत्यु के पश्चात् शरीर की उपलब्धि रहती है; अतः इस अवस्था तक ही ऐसे कार्य दिखाने चाहिये ! निर्वाण के पश्चात् जब शरीर ही नहीं रहता, तब ऐसे कार्य करना आगम-युक्ति और न्याय-संगत नहीं हैं । अन्त्येष्टि क्रिया तो जैनेतर लोग भी करते हैं, अतः यह क्रिया इन्द्र द्वारा प्रतिपादित मानी जाए या अन्य का अनुकरण ।

पंचकल्याणक में जन्म-कल्याणक के दिन मूर्ति को वस्त्र पहिना कर गृहस्थ का रूप दिया जाता है । तप के दिन आहारादि से मुनि का और ज्ञान के दिन अष्ट प्राप्तिहार्थ्यादि समवसरण-रूप अरहंत देव का रूप दिया जाता है और इस अवस्था वाली ही मूर्तियाँ हमारे जिनालयों में विराजमान रहती हैं । यदि इन्हीं मूर्तियों का निर्वाण-कल्याणक कर दिया जाए तो अरहंत अवस्था समप्त हो जाने से जैसी सिद्ध की, मूर्तियाँ बनायी जाती हैं, उसी रूप सभी मूर्तियों होनी चाहिये; किन्तु मोक्ष-कल्याणक कर देने के बाद भी मूर्तियाँ अरहंत अवस्था की बनी रहती हैं और उन्हें अरहंत के रूप में ही माना जाता है । यदि अरहंत के रूप में ही मान्यता देना है, तो ज्ञान-कल्याणक तक ही होना चाहिये ।

विद्याभूषण श्री पं. मिलापचन्द जी कटारिया, केकड़ी वालों ने 'सन्मति-सन्देश' वैशाख, विक्रम सं. २०२७, अंक ४ में 'प्रतिष्ठाचार्यों' के लिए एक विचारणीय विषय मोक्ष-कल्याणक' में लिखा था, अरिहंतदेव के अधार्तिया कर्मा के नाश होने (निर्वाण) के बाद ही दाह-संस्कार किया जाता है । जब दाह-संस्कार के समय भगवान् अरिहन्त ही न रहें तो उनकी प्रतिमा भी अरहंत की कैसे मानी जाएगी ? ऐसा दृश्य दिखाना शास्त्र-सम्मत प्रतीत नहीं होता है । फिर न जाने ये प्रतिष्ठाचार्य मानमानी कैसे कर रहे हैं ? यह उचित नहीं है । केवलज्ञानी भगवान् का धर्मोपदेश (श्रेण षुष्ठ ३२ पर)

तीर्थकर : जुलाई ८८/१७

किस दिशा में बढ़ रहे हैं जैन ?

पुषराज

देश के एक करोड़ जैनों के लिए यह पर्युषण का समय है यानी एक जगह स्थिर हो कर धर्म की साधना का समय । दिगम्बर इसे 'दशलक्षण पर्व' का नाम देते हैं और श्वेताम्बर 'सांख्यसरिक पर्व' का । जैन साधुओं के लिए इन दिनों चार मास के स्थिरवास का विधान किया गया है जो आषाढ़ शुक्ल १४ से शुरू होता है । इनमें-से आठ दिन श्वेताम्बरों द्वारा पर्युषण के रूप में मनाये जाते हैं और दस दिन दिगम्बरों द्वारा । पिछले कुछ समय से जैन समाज में पहले की तुलना में ज्यादा एकता और स्फूर्ति दिखायी दे रही है । जैनों के विभिन्न संप्रदायों में ताल-मेल बढ़ा है और उनके धार्मिक आयोजनों में अब ज्यादा संगठन दिखायी पड़ता है । लेकिन इससे संतुष्ट होने से पहले हमें इस बात की बारीक जाँच-पड़ताल कर लेनी चाहिये कि जैन समाज के इस नवोन्मेष में क्या खूबियाँ हैं और क्या कमियाँ छूट रही हैं ?

भारत के सभी धर्म-संप्रदायों की तरह जैनधर्म की भी दो दिशाएँ रही हैं जो एक-दूसरे से पुष्ट होती रहती हैं । एक दिशा धर्म की साधना की है, जिसमें तपस्या और महाव्रतों की साधना महत्त्वपूर्ण है; दूसरी का लक्ष्य महाव्रतों के रूप में प्राप्त आज्ञार का समाज में व्यापक रूप से फैलाव है । जैनधर्म में तप की ओर एक स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है । देश में इस समय दिगम्बर संप्रदाय के लगभग ३६३ मुनि - आर्थिकाएँ हैं, जिनमें श्री विद्यासागर जी जैसे आचार्य भी हैं जिनकी तपस्या और साधना के कारण उनका बड़ा नाम है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कोई ९,२१६ साधु और साध्वियाँ हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय में आचार्य के स्तर पर पहुँचने के लिए ब्रह्मचारी, क्षुल्लक एवं मुनि की सीढियाँ पार करनी पड़ती हैं; इसलिए बहुत कम लोग वहाँ तक पहुँच पाते हैं ।

इन आचार्यों और साधु-साध्वियों के उपदेशों के आधार पर ही जैनधर्म का प्रचार-प्रसार हो रहा है । जैन संप्रदाय को सबसे सुविधा-संपन्न माना जाता है; क्योंकि जैनों ने उद्योग और व्यापार में काफी प्रगति की है । समाज के सबसे संपन्न तबके में उनकी गिनती की जाती है; इसलिए जैन सामाजिक कामों में भी अग्रणी दिखायी देते हैं । इस सबके बावजूद जैनधर्म में तप और आचार का जो स्थान है उसका महत्त्व उतनी तेजी से बढ़ता दिखायी नहीं देता जितनी तेजी से जैन समाज की गतिविधियाँ बढ़ रही हैं । हो सकता है रफ्तार का और तपस्या का साथ न बैठता हो; लेकिन इतने मात्र से संतोष नहीं कर लेना चाहिये ।

अपने इस पर्युषण पर्व के समय जैन संप्रदाय ने महसूस किया होगा कि शास्त्र-सभाओं की संख्या किस क्रम में घटती जा रही है। आचार की समझ भी घटती जा रही है। मंदिरों से जुड़ी हुई संस्थाओं के काम-काज में जो धर्म-चेतना होती थी, वह भी अब बहुत कम दिखायी देती है। हमारी सभी धर्म-संस्थाओं का लोगों को छुट-पुट राहत पहुँचाने में या उत्सव वगैरह के सामान्य कार्यक्रमों में सारा समय और सारे साधन निकल जाते हैं। धार्मिक कामों में पूरे समाज के ज्ञान और शील को बढ़ाने का जो तेज होना चाहिये वह दिखायी नहीं देता।

लेकिन यह शायद कोई नयी बात नहीं है। इसके कुछ लक्षण तो काफी समय पहले प्रकट हो गये थे। करीब चार सौ साल पहले जैनों के दोनों मुख्य संप्रदायों में अनेक उप-संप्रदाय बनने शुरू हुए थे। दिगम्बरों में तेरापंथी, बीस पंथी, और श्वेताम्बरों में मंदिरमार्गी, स्थानकवासी, चैत्यवासी, ढूँढ़िया आदि सम्प्रदाय बने। पीतवस्त्र और मुँह-पट्टी को ले कर छिड़े विवाद ने भी नये सम्प्रदाय बनाये। यापनीय सम्प्रदाय तो दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच का एक संप्रदाय है। इन संप्रदायों के बनने से जैनधर्म की गतिविधियों में तेजी आयी होगी। उसका साहित्य भी बढ़ा होगा; लेकिन इससे दो नयी प्रवृत्तियाँ हुईं। एक तो यह कि जैनों के भीतर आपसी विवाद और कलह में बढ़ोतरी हुई और दूसरे उसी सनातन तत्त्व-साधना में लगे भारतीय समाज के दूसरे धर्म-संप्रदायों से उनका संपर्क और लेन-देन कम होता चला गया।

जैनों के इन विभिन्न उप-संप्रदायों में बिखरने का क्या असर पड़ा इसकी ठीक से समीक्षा होनी चाहिये। इस बिखराव के कारण जैनों में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया जो अपने सुधारवादी उत्साह में विवेक खो बैठा। जैन आचार में जो गुण-ग्राहकता दिखायी जाती है और हमारे यहाँ के सभी धर्म-संप्रदायों में एक-दूसरे से आचार-विचार और प्रतीक लेते-देते रहने की जो पुरानी परंपरा रही है वह छूटने लगी और सांप्रदायिक कट्टरता ने उसकी जगह ले ली। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा मूर्तियों और तीर्थों का विरोध करने वाले संप्रदायों के रूप में सामने आयी। इस प्रवृत्ति ने जैनधर्म को जैन संप्रदाय में बदल दिया।

इस अलगाववादी प्रवृत्ति के दर्शन सबसे ज्यादा हमारी इस सदी में सामने आये हैं। इस सदी के शुरू में बैरिस्टर चंपत राय जैनों और हिंदुओं को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग मान्यताओं वाला समाज बताने लगे थे। बाद में उन्होंने अलग जैन कोड बनवाने के लिए रात-दिन एक किया और अंग्रेजों के हथ खेल गये। इस प्रवृत्ति का दूसरा चेहरा पार्श्वनाथ हिल को ले कर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में जो विवाद छिड़ा उसके साथ सामने आया। पिछले दिनों अंतरिक्ष पार्श्वनाथ,

मक्सीजी, केसरियाजी जैसे जैन तीर्थों में जिन प्रतिमाओं पर उबला पानी डाल कर, उन्हें गर्म शलाखाओं से दाग कर या लंगोट आदि चिह्न बना-मिटा कर जो हठ-वादिता और आक्रामकता दिखायी गयी वह इसी प्रवृत्ति की देन है ।

जैनधर्म में ये प्रवृत्तियाँ क्यों शुरू हुईं, इसका हमारे आचार्यों और दूसरे विद्वानों को गंभीरता से विवेचन करना चाहिये । ऐसा लगता है कि इस्लाम के प्रभाव में जैनों ने बहुत-सारे विजातीय और हमारी धर्म-चेतना के प्रतिकूल विचार और मान्यताएँ ग्रहण कर लीं । मूर्तियों और तीर्थों का विरोध तो इसका साफ-साफ दिखायी देने वाला उदाहरण है ही, हमारे स्थापत्य और चित्रकला में सामाजिक दृष्टिकोण और दूसरे कामों में भी उसका कुछ असर पड़ा होगा । यह असर जैनों पर ही नहीं पड़ा, देश के काफी संप्रदायों और लोगों पर पड़ा है । इस असर ने पूरे समाज में ही एक-दूसरे के बारे में अलगाव और असहिष्णुता को बढ़ाया है । हमारे यहाँ पर हर धर्म-संप्रदाय एक-दूसरे से ग्रहण करते हुए ही अपनी तेजस्विता बनाये रख पाया था और जब यह लेन-देन कम हुआ तो तेजस्विता भी क्षीण हुई ।

अंग्रेजों ने अलगाव और असहिष्णुता के इन बीजों को और गहरा करने के लिए हमारी धार्मिक परंपरा और हमारे पूरे इतिहास को ही तोड़-मरोड़ दिया । उन्होंने हमारे संप्रदायों की इस तरह की व्याख्याएँ कीं कि हमारे पूरे इतिहास को ही आपसी विवाद और खून-खराबे से रंग दिया । ये सब उल्टी-सीधी व्याख्याएँ हमारे विश्वविद्यालयों में और दूसरे शिक्षा-संस्थानों में आज भी ज्यों-की-त्यों पढ़ायी जा रही हैं । बैरिस्टर चंपतराय इसी शिक्षा-दीक्षा की देन थे । इसके दुष्प्रभावों के बारे में आज भी हममें कोई जागरूकता दिखायी नहीं देती ।

हमारे सभी धर्म-संप्रदायों में एक ही धर्म-चेतना दिखायी देती रही है और वे एक ही सनातन परंपरा के अंग हैं । जैन आगामों के अनुसार तीर्थंकर बिना किसी राग के लोगों को धर्म का उपदेश देते हैं । उनका उपदेश किसी व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष के लिए नहीं होता । क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों के अभाव में आत्मा में जिन उत्तम क्षमा, मार्दव, आज्ञव, शौचादि आदि धर्मों की उत्पत्ति होती है वे भी सभी भारतीय परंपरा में मन्वादि स्मृतियों में दशक धर्म-लक्षणम् कह कर स्वीकार किये गये हैं । णमोकर मंत्र में न किसी तीर्थंकर का नाम आता है न ही किसी आचार्य या भुनि का । इसके अनुसार जो भी वीतराग देव हैं वे सभी पूजनीय हैं । जो महाव्रती हैं, पंच आचारी का बालन करते हैं, पठन-पाठन और स्वाध्याय में लगे हैं वे चाहे किसी धर्म, संप्रदाय और समुदाय या गच्छ के हों समान रूप से वंदनीय हैं । उनकी अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही तमाम शंकाओं को निर्मूल कर देती हैं—'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' यही जैनों

की निर्ग्रन्थ परंपरा है ।

जैन लोग अपने धर्म को अनादि और अनन्त मानते हैं । ~~अवैदिक कहे जाने~~ वाले जैन अपने धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए वेदों एवं पुराणों का उल्लेख बड़े गर्व के साथ करते हैं । श्रीमद्भागवद् के पाँचवें स्कंध में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का बहुत सुंदर वर्णन मिलता है । इसी तरह आजितनाथ एवं अरिष्टनेमि नाम के तीर्थंकरों का निर्देश यजुर्वेद में मिलता है । जैन पुराणों में ऋषभदेव को चौदहवें मनु नाभिराय का पुत्र बतलाया गया है । लौकिक शास्त्र, लोक-व्यवहार एवं धर्म की स्थापना करने के कारण इन्हें 'आदि ब्रह्मा' कहा गया है । 'हरिवंश पुराण' में उन्हें 'हिरण्य - गर्भ' कहा गया है । प्रजा को षट्कर्म कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या सिखाने के कारण एक जगह उन्हें प्रजापति कहा गया है । 'भक्तामरस्तोत्र' में उन्हें विभु, अचिन्त्य, ब्रह्मा, ईश्वर, योगेश्वर एवं शंकर आदि नामों में स्तुति की गयी है । जैन मान्यता के अनुसार भगवान् ऋषभदेव जीवन-पर्यन्त प्राणिमात्र को उनकी भलाई का उपदेश दे कर कैलाश पर्वत से मोक्ष को प्राप्त हुए ।

हमारी सनातन पम्परा के इस प्रवाह से अलग भटकने का सिलसिला करीब चार शतक पहले शुरू हुआ था । जैनों के मूर्ति-पूजा का विरोध करने वाले स्थानकवासी संप्रदाय का प्रवर्तन लोकाशाह ने किया था । जैनों का हूँदिया संप्रदाय भी लोकाशाह के अनुयायियों का ही संप्रदाय है । इस संप्रदाय के ज्यादातर लोग गुजरात, मारवाड़ और पंजाब में रहते हैं । यह संप्रदाय श्वेताम्बरों के ही पैतालीस आगमों में से पैतीस आगमों को मानता है और यह चुनाव मूर्ति-पूजा से बचने को ले कर ही किया गया दिखायी देता है ।

श्वेताम्बर संप्रदाय में स्थानकवासी और तेरापंथी उपसंप्रदाय की तरह दिग्म्बरों में तारणपंथी संप्रदाय भी मूर्तिपूजा-विरोधी संप्रदाय है । श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों ही परंपराओं में मूर्तिपूजा का विरोध सोलहवीं शताब्दी से शुरू हुआ था । जैनधर्म में मूर्ति-पूजा का विरोध करने वाले लोकाशाह एवं तरण स्वामी दोनों ही मुस्लिम शासकों के राज्याधिकारी थे । मुस्लिम शासकों के यहाँ इनकी काफी प्रतिष्ठा थी, इन लोगों का भी इन शासकों से क्राफी लगाव था । यह लगाव इतना अधिक था कि गुजरात के शासक मुहम्मदशाह की मृत्यु हो जाने पर लोकाशाह ने अपनी नौकरी छोड़ दी और लेखन-कार्य में लग गये ।

इस भटकाव ने जैन समाज को उस मूल स्रोत से अलग कर दिया जिससे तात्त्विक और शास्त्रीय लेन-देन के जरिए वह अपनी मेधा और अपने तप को बढ़ाता रहा । इस अलगाव से जैन समाज का ही नहीं पूरे भारतीय समाज का नुकसान हुआ है । हमें अपने समाज को किन मान्यताओं और सिद्धान्तों पर खड़ा करना है

इसका अनुमान ही नहीं रहा। आज कोई जैन विद्वान् यह बताने की स्थिति में नहीं है कि भारतीय समाज को अपनी सभ्यता का क्या स्वरूप बनाना है और उसे कैसे बनाया जा सकता है? यह काम तो अकाले महात्मा गाँधी ने किया था और वे कितने जैन थे, कितने अजैन क्या ऐसा कोई हिसाब लगाया जा सकता है? जहाँ तक तात्त्विक मान्यताओं का सवाल है हमारी सनातन परम्परा से जुड़ा हुआ हर व्यक्ति बिना झिझक के जैन कहा जा सकता है और इसी तरह हर जैन हिंदू कहा जा सकता है। अगर यह संज्ञा भारतीय परंपरा के समानार्थक गिनी जा सकती हो।

भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण दिवस से जैनों के विभिन्न संप्रदायों और उपसंप्रदायों में कुछ एकता आयी है। स्थानीय स्तर पर उनमें तालमेल बढ़ा है और महावीर जयंती और पर्युषण जैसे पर्वों के समय उनमें यह एकता दिखायी दे जाती है; लेकिन जब तक यह एकता उन्हें पूरे भारतीय समाज से एक-जी करने और भारतीय चिन्तन के सनातन प्रवाह की ओर लौटाने में कामयाब नहीं होती, अधूरी ही रहेगी। हो सकता है कि हमारे सिद्ध पुरुषों के मन में यह जुड़ाव अभी ज्यों-का-त्यों हो; लेकिन धर्मप्रचार में लगे दूसरे लोगों में तो ज्यादा नहीं दिखायी देता। इस पर्युषण पर्व पर हमें इन सब सवालों पर गंभीरता से सोचना चाहिये और अगले पर्युषण पर्व तक इससे कुछ ठोस नतीजे निकाल लेने चाहिये।

—दैनिक जनसत्ता, नई दिल्ली, 4-9-87

बिना दवा ! बिना इंजेक्शन !! बिना ऑपरेशन !!!

जटिल रोगों से मुक्ति पाने के लिए—

स्वस्थ जीवन जीने के लिए—

स्वस्थ वातावरण में आवास एवं उपचार की आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। स्वच्छ शुद्ध भोजन की व्यवस्था है।

‘प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान श्री महावीरजी’

जटिल रोग हो तब भी जीवन से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ सभी प्रकार के रोगों का इलाज प्राकृतिक चिकित्सा, योग व फिजियोथेरेपी स देश के प्रसिद्ध चिकित्सकों द्वारा किया जाता है। महिलाओं व पुरुषों के लिए आवास व उपचार की अलग-अलग व्यवस्था है। एक बार भर्ती होकर सेवा का अवसर दीजिये, स्वास्थ्य-लाभ लीजिये।

विस्तृत जानकारी के लिए सम्पर्क करें।

श्री महावीर योग प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान

श्री महावीरजी-३२२२२० (राजस्थान) फोन-४४

जयपुर कार्यालय : महावीर भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३०२००२ फोन-७३२०२

२२/तीर्थकर : जुलाई ८८

सूदखोर संस्कृति : क्या दे रही है यह विरासत में ?

सम्पादकजी,

आप तो जानते ही हैं कि 'सूद' फारसी का शब्द है; 'खोर' भी। सूद को हिन्दी में ब्याज कहते हैं, जो संस्कृत के 'व्याज' से बना शब्द है। 'खोर' का अर्थ है 'खाने वाला' इस तरह 'सूदखोर' के मायने हुए 'ब्याज खाने वाला'। मुसलमानों में सूदखोरी को पाप माना जाता है; किन्तु बनिज-ब्यौसाय करने वाले लोग इसे एक लाभकारी धन्धा मानते हैं। जैन जन सदियों से इसे करते आ रहे हैं। जहाँ तक व्यक्ति के जीवन का प्रश्न है, इसे हम एक बार स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु जब जन-जीवन का सरोकार खड़ा होता है, तब सूद की बुराइयाँ स्पष्ट/उजागर होने लगती हैं।

संपादकजी, लोग चंदा इकट्ठा करते हैं और तब तक इकट्ठा करते जाते हैं, जब तक वह इतना न हो जाए कि उससे आने वाले व्याज-के-धन से प्रस्तावित प्रवृत्ति के संचालन की गारंटी उठ खड़ी न हो। किसी सार्वजनिक कल्याण के कार्य के लिए चंदा जुटाना बुरी बात नहीं है; किन्तु तृष्णावश उसमें-से सूदखोरी खड़ी करना और संचित धन को बचाये रखने की संस्कृति विकसित करना, न सिर्फ बुरी बात है, बल्कि बहुत बुरी बात है।

इसमें-से दो निष्कर्ष सामने आते हैं; एक, हम धन इकट्ठा कर उस ओर से आश्वस्त हो जाना चाहते हैं; दो, हमारे मन में आगामी पीढ़ी के प्रति अविश्वास की भावना बनती है। हम इस संदेह के साथ कदम बढ़ाते हैं कि कभी धन की कमी हुई तो जिस प्रवृत्ति को शुरू किया जा रहा है, उसका क्या होगा ? होना असल में यह चाहिये कि हम किसी भी सार्वजनिक हित-की-प्रवृत्ति-को इस तरह संयोजित करें कि उसके लिए जितना धन जरूरी हो, उसके लिए ही हाथ फैलायें। उस योजना को पत-दर-पत/हर्फ-दर-हर्फ समझायें/स्पष्ट करें। बतायें कि हम क्या करना चाहते हैं, क्यों करना चाहते हैं, कैसे करना चाहते हैं, क्या लक्ष्य है हमारा, कौन लोग इससे प्रभावित होंगे, आदि। इतना सब कर लेने के बाद ही हमें अपनी हथेली संचय के निमित्त पसारनी चाहिये।

किन्तु हो यह रहा है कि हम सूद के लिए धन जुटा रहे हैं और कागज पर कुछ औधी-सीधी/आड़ी-टेढ़ी योजनाएँ तैयार कर सरकार से कर-छूट माँग रहे हैं। कर-छूट मिल जाने पर हम जिनके पास पैसा है उनसे यह कह कर पैसा बसूल रहे हैं कि आपको कर में इतनी-इतनी छूट मिल जाएगी, आप यह धन

सरकार को देने की जगह हमें ही दे दीजिये । वस्तुतः ऐसा करने से हम एक विकृत मानसिकता को जन्म देते हैं ।

व्यक्ति में-से त्याग की भावना दिनों-दिन लुप्त होती जाती है । ऐसे व्यक्ति अब बहुत कम रह गये हैं, जो अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को घटा कर अपने निजी धन में-से किसी लोकहित के कार्य में धन लगाते हों । ज्यादातर लोग ट्रस्टों से, या फिर कर-छूट का लाभ उठा कर अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से पैसा देते हैं । इस तरह व्यक्तिगत त्याग, उत्सर्ग, सेवा और समर्पण का जो बहुमूल्य संस्कार था वह लगातार लुप्त होता जा रहा है । यह गहन चिन्ता का विषय है ।

संपादकजी, मुझे याद है । एक सज्जन बड़े उत्साह के साथ आये और बोले कि लाइये, आप जो काम कर रहे हैं, मैं उसमें आपकी मदद करूँ । मैंने सोचा यह आदमी बिल्कुल 'जैनुइन' है, असली है । मैंने हाँ भर दी; किन्तु जब उनसे धन लेने गया तब उन्होंने जो चेक दिया वह उनके व्यक्तिगत खाते से नहीं था, एक ट्रस्ट से था । मेरा माथा ठनका । मैं सोचने लगा कि यह व्यक्ति कितने छल-फरेब में जी रहा है । ऐलानों में व्यक्तिगत है; किन्तु जब देने की बारी आती है, तब ट्रस्ट में-से देता है ।

सूदखोर संस्कृति का पनपना जैनधर्म के बुनियादी उसूलों से बिल्कुल असंगत है । सूदखोरी की आदत पुरुषार्थ-की-दमक को कम करती है और निकम्मेपन को बढ़ावा देती है । निश्चिन्तता के कारण हम यह मान लेते हैं कि हम काम करें, न करें इतना पैसा तो हमारे पास है ही कि संस्था अस्तित्व में रहेगी, अतः एक सुस्ती, पदलिप्सा, और निरंकुशता पनपने लगती है । यदि हम ट्रस्टों/फंडों द्वारा आने वाली पीढ़ी में निष्क्रियता और पुरुषार्थहीनता विकसित करना चाहते हैं तो बात और है; किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम जितनी ज़रूरत हो उतनी हथेली पसारें और जो मिले उसे खर्च करने के बाद, फिर जनता के सामने जाएँ । यदि कोई काम हुआ है, तो कोई वजह नहीं है कि जनता आपको धन न दे और आपकी झोली लबालब न कर दे । मेरा प्रस्ताव है संपादकजी कि हम अपनी समकालीन और आने वाली पीढ़ी को सूद की बजाय सेवा और समर्पण के संस्कार बिरासत में दें और उसे खुले शब्दों में बतायें कि किसी भी अच्छे काम के लिए धन की कभी कोई कमी नहीं पड़ सकती । आप काम करें और जिस क्षण चाहें उस क्षण अपनी झोली भर लें । शर्त है कि स्वयं को किसी प्रवृत्ति या संस्था से चिपकायें नहीं, बिल्कुल जल-कमल-की-तरह निर्लिप्त रह कर काम करने की आदत डालें; अतः जो लोग सूद उठाने के लिए सार्वजनिक चन्दा करते हैं, समाज को

(शेष पृष्ठ २८ पर)

सच्ची पत्रकारिता

'तीर्थकर' में डॉ. अनिलकुमार जैन का पत्र प्रकाशित कर आपने उचित किया है। कतिपय पत्र-पत्रिकाएँ प्रतिष्ठितों के अनौचित्य को प्रकाशित करने में संकोच करती हैं। एक बार 'नवभारत टाइम्स' में एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ हुआ था प्रेशर कुकर का, जिसमें एक मुर्गी रखी हुई चित्रित थी। विज्ञापन में यह दर्शाया गया था कि कुकर के छोटा होने पर भी वह ऐसा है कि उसमें पकाने-हेतु मुर्गी पूरी समा जाती है। मैंने शाकाहार के प्रचारक डॉ. मुनीन्द्रकुमार का एक लेख प्रकाशित किया था तथा 'नवभारत टाइम्स' के अधिकारियों से निवेदन किया था कि अर्थलाभ के लिए हमें ऐसे विज्ञापन प्रकाशित नहीं करने चाहिये जो हिंसा की प्रेरणा करें एवं मानवीय गुणों के प्रतिकूल हों। यह निवेदन 'संपादक के नाम पत्र' के रूप में प्रकाशित भी हुआ था।

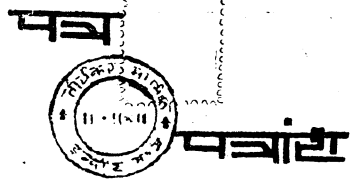
निष्पक्ष होकर औचित्य का समर्थन तथा अनौचित्य का निरसन करना ही सच्ची पत्रकारिता है। किसी के गुण-दोष दोनों बताने चाहिये।

-डॉ. कन्धेदीलाल जैन, शहडोल

त्रिकोण-शुद्धि जरूरी

जून ८८ का अंक पढ़ गया हूँ। हस्तिनापुर-प्रसंग अशोभनीय था। इस संदर्भ में आपका संपादकीय 'अहिंसा के लिए हिंसा' तथा 'संबन्ध-तत्त्व : तोड़ें कैसे इसे?' आलेख बहुत अच्छे बन पड़े हैं। संतुलित हैं। 'प्रलयकर' की 'शब्द-चर्चा' भी आहार, आचार, और विचार की त्रिकोण-शुद्धि की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ है। यदि प्रबुद्ध साधुजन इस पर विचार करेंगे तो सांस्कृतिक प्रदूषण में कमी आयेगी।

-नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद



नित्य नया मार्ग-दर्शन

बहुत समय से 'तीर्थकर' को पढ़ते-पढ़ते, अंतरंग में प्रेम हुआ है बढ़ते-बढ़ते। किसी अंक में कमी नहीं रहती है कोई, जैन जगत् की सभी भ्रान्तियाँ इसने खोयीं। नित्य निरन्तर नया मार्ग-दर्शन मिलता है, सद्बिचार-से-सदाचार मन में खिलता है। लगता है तीर्थेशों का वह तीर्थ बनेगा, यथार्थता-के-समारोह का हर्ष मनेगा।

-ब्र. जयसागर, सागर

साधन-शुद्धि की आवश्यकता

डॉ. अनिलकुमार जैन का पत्र पढ़ा। सचमुच जैनों को अपनी पत्र-पत्रिकाओं में सिगरेट, शराब, मांस, अण्डों आदि के विज्ञापन नहीं देने चाहिये। विज्ञापनों के बारे में एक आचार-संहिता बनायी जाए; क्योंकि न्याय-संपन्न आजीविका श्रावक का प्रथम कर्तव्य है और प्रत्येक नागरिक का जन्म-सिद्ध अधिकार है। राष्ट्र और राष्ट्र की सभ्यता न्याय और नीति की नींव पर ही टिक सकती है। चाहे राजा हो या प्रजा, मालिक हो या मजदूर शुद्ध साधनों से धन प्राप्त करे—यह गाँधीवाद का निचोड़ है और यही प्रत्येक जैन का आचार है। वस्तुतः सामाजिक शिक्षण के अभाव में हम साधन-शुद्धि की आवश्यकता को नहीं समझ रहे हैं। हमारे त्यागी साधु-संत साधन-शुद्धि पर उपदेश दें, यह वांछनीय है।

-धनसुख छाजेड़, उहानू

तीर्थकर : जुलाई ८८/२५

क्या हम इन्हें अब भी जैन कहें ?

'तीर्थंकर' के जून'८८ के अंक में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन' के समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित मांसाहार से संबन्धित लेखों की ओर ध्यान आकर्षित कराया गया था। ज्ञातव्य है कि यह प्रकाशन साहू-परिवार का है, जो आज दिगम्बर जैन समाज के नेता भी हैं। पहले उसकी पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी ऐसे विज्ञापन छपते थे, जो मांसाहार या अण्डों से संबन्धित हों। फिर अण्डों से व्यंजन बनाने की विधि, मुर्गों से व्यंजन बनाने की विधि, तथा मटन से व्यंजन बनाने की विधि क्रमशः प्रकाशित होने लगी। पिछले कुछ माहों से उसकी ही पत्रिका 'वामा' के प्रत्येक अंक में मांस से व्यंजन बनाने की विधि प्रकाशित होने लगी है। जून'८८ के अंक में मुर्गों के व्यंजन प्रकाशित हुए थे तथा जुलाई'८८ के अंक में बकरे के मांस से बिरयानी मटन बनाने की विधि दी गयी है।

यहाँ मेरा समस्त जैन समाज से पूछना यह है कि क्या 'टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन' के मालिकों को अब भी जैन मानें? क्या इन्हें अब भी जैनों का नेता कहें? क्या जैन समाज इतनी हिम्मत जुटा पायेगा, जो इन्हें अपना नेता मानने से इनकार कर सके? क्या अब भी इनके मांसाहार के प्रचार से कमाये धन को जैन मन्दिरों/तीर्थों में दान के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये? क्या हमारे मुनि/साधु इनके द्रव्य से अब भी आहार ग्रहण करेंगे?

मेरे मन-की-व्यथा तो कुछ और ही है। यदि ये लोग दिगम्बर जैन समाज के नेता बने रहें तो जैनधर्म का क्या हाल होगा? हम जैनतर लोगों में अपना क्या मुँह दिखा पायेंगे? जैन समाज की यह एक अति दयनीय स्थिति हो गयी है। समय रहते

इस स्थिति से नहीं निकला गया तो बहुत अनर्थ हो जाएगा।

'टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन' के मालिकों से हमारा आग्रह है कि वे ऐसे लेख तथा विज्ञापन तत्काल बन्द कर दें तथा समस्त जैन समाज से गलत कार्य के लिए क्षमा-याचना करें; अन्यथा वे यह घोषणा करें कि वे अब जैनधर्म नहीं मानते हैं और न ही वे अब जैन समाज के नेता हैं।

—डॉ. अनिलकुमार जैन, अंकलेश्वर

बहुत पसंद आयी

जून अंक पठनीय और मननीय है। पृष्ठ ८ (पंक्ति २२-२४) में 'संबन्ध-तत्त्व'... लेख में आपकी उक्ति 'जिस बिन्दु पर इदं न मम का साम्राज्य शुरू होता है, उसी बिन्दु से शान्ति के राज्य की परिधि शुरू होती है' बहुत पसंद आयी।

—कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

अनेकान्त का सबसे बड़ा भजाक

जून का 'संपादकीय' वास्तव में बहुत प्रेरणास्पद विचार-धारा को लिये हुए है। 'हम उन तमाम उसूलों को भूल चुके हैं, जिनसे जैनत्व की रचना होती है' कितना सार्थक है। शिक्षण-शिविर को ले कर यदि हम आपस में इस तरह उलझ सकते हैं तो हमारे जैन होने का क्या लाभ? दुःखद स्थिति यह है कि जो धर्मात्मा/मुमुक्षु बनने का दंभ भरते हैं, वे ही तीव्र कषायों के इस गंदे घिनौने खेल में रस लेते हैं। अनेकान्त स्याद्वाद, और अहिंसा का सबसे बड़ा भजाक तो आज हम बना रहे हैं। आप 'तीर्थंकर' के माध्यम से जो स्वस्थ क्रान्ति ला रहे हैं, मैं हृदय से उसका अनुमोदन करता हूँ।

—हीराचंद बोहरा, बजबज

—**मद्रास** । १९८२ में स्थापित जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान ने संतोषजनक प्रगति की है । प्रतिष्ठान सर्टिफिकेट इन जैनालॉजी, डिप्लोमा इन जैनालॉजी, एम.ए., एम.फिल., तथा पीएच.डी. पाठ्यक्रम संचालित करता है । वर्ष १९८८ में एम.ए. (जैनालॉजी) में ६ परीक्षार्थी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, जिनमें ५ छात्राएँ और १ छात्र है ।

—**वाराणसी** । पाश्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ने १ जून से २३ जून तक एक 'प्राकृत भाषा अध्ययन शिबिर' आयोजित किया । श्री जितेन्द्र शाह ने शिबिरार्थियों को प्राकृत भाषा और व्याकरण का अध्ययन करवाया । शिबिर में शोध-छात्रों और साधु-साध्वियों ने भी भाग लिया ।

—**सखनऊ** । गत ११ जून को जैन इति-हासवेत्ता डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन (जन्म : मेरठ/६ फरवरी १९१२) का देहावसान हो गया । उन्होंने १०० से अधिक पुस्तकें लिखीं और 'जैन संदेश' (मथुरा) के 'शोधार्थी' का सफल संपादन किया । पं. कैलाशचन्द्रजी की दिवंगति के बाद जैन विद्या-जगत् की इस वर्ष यह दूसरी बड़ी और अपूरणीय क्षति है ।

—**नई दिल्ली** । भारतीय ज्ञानपीठ ने 'नई पीढ़ी नाट्य प्रतियोगिता' का आयोजन किया है, जिसमें प्रविष्टियाँ भेजने की अन्तिम तिथि ३१ अगस्त रखी गयी है । शर्तें हैं : वय-सीमा १ जून १९८८ तक ४० वर्ष; संपूर्ण नाटक अथवा एकांकी-संकलन की संपूर्ण पाण्डुलिपि की २ प्रतियाँ भेजे, पृष्ठ-संख्या लगभग १०० हो; नाट्यकृति अप्रकाशित हो । नियमावली आदि के लिए संपर्क : भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इंस्टी-ट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-११०००३ ।

—**बाहुबली** (कोल्हापुर) । 'अनेकान्त शोधपीठ' की सालाना बैठक में प्रस्तुत प्रतिवेदन के अनुसार शोधपीठ की बाहुबली, उज्जैन, तथा धारवाड़ शाखाओं में २४ शोधार्थी एम.फिल., पीएच.डी., डी.लिट. तथा स्वतन्त्र शोधकार्य कर रहे हैं । शोध-पीठ को 'द टाइम्स रिसर्च फाउंडेशन' ने एक लाख रुपयों का अनुदान दिया है । शोध-पीठ के लिए बाहुबली विद्यापीठ परिसर में १२ लाख रुपयों की लागत से एक विशाल दो मंजिला भवन निर्माणाधीन है । आगामी वर्ष के लिए ४० हजार रुपयों का बजट मंजूर किया गया है ।

—**जयपुर** । अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन के तत्वावधान में आगामी १४-१५ अगस्त को टोडरमल स्मारक भवन में 'आचार्य कुन्दकुन्द संगोष्ठी' का आयोजन किया गया है । संगोष्ठी के मुख्य अतिथि 'जीवन साहित्य' के संपादक/जाने-जाने साहित्यकार श्री यशपाल जैन होंगे । संगोष्ठी में इन्दौर, अलीगढ़, कोटा, उज्जैन, नीमच, दिल्ली, वाराणसी, जोधपुर, और बम्बई के विद्वान् सम्मिलित हो रहे हैं । १० से ११ अगस्त तक यहीं एक धार्मिक शिक्षण शिबिर भी रखा गया है ।

—**नई दिल्ली** । भारतीय संस्कृति की अनन्य उपासिका श्रीमती रमा जैन (पूर्व अध्यक्ष भारतीय ज्ञानपीठ) की १३ वीं पुण्यतिथि २२ जुलाई को मनायी गयी । स्मरणीय है कि श्रीमती जैन के प्रयास से ही १९६३ में 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' (तब एक लाख, अब डेढ़ लाख रु.) की स्थापना की गयी थी, जिसके अन्तर्गत अब तक २२ साहित्यकारों को पुरस्कृत/अलंकृत किया जा चुका है ।

समाज / संस्कृति

—सागर। १० जुलाई को ललितपुर-निवासी श्री गुलाबचन्द सिंघई ने अपनी सुपुत्री सौ.कां. सुषमा के विवाहोत्सव पर 'तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ, इन्दौर' द्वारा प्रकाशित 'अण्डा : जहर ही जहर' की २०० प्रतियाँ अतिथियों को उपहार-स्वरूप वितरित कर आहार-शुद्धि की दिशा में एक स्वस्थ परम्परा प्रवर्तित की है। सागर विश्व-विद्यालय में फार्मसी विभाग के रीडर डॉ.

मुरलीधर खरया ने कहा है कि फैशन और विज्ञापन के कारण नवयुवकों में अण्डों का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है। विचलन-के-इन-क्षणों-में-अण्डों की वास्तविकता से परिचित कराने वाली इस पुस्तिका को शादी के मौके पर भेंट-स्वरूप दे कर सिंघई-जी ने एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है। पुस्तिका के संपादक डॉ. नेमीचन्द जैन ने इसे संपादित कर अहिंसक समाज को उपकृत किया है।

(पृष्ठ २४ का शेष)

चाहिये कि वे ऐसे लोगों की हथेली-पर-धन देने की अपेक्षा उन्हें ललकारें कि 'पहले काम, बाद को दाम'। हमें 'सूद नहीं, सेवा' का नारा लगाना चाहिये।

जो लोग सूदखोरी करते हैं, वे व्यापार-व्यवसाय करने वालों के लिए पैसा इकट्ठा करते हैं और शोषण के चक्र को तेज करते हैं। उनकी इस वृत्ति से सेवा-क-रथ नहीं चलता, बल्कि उसके पहिये लिप्सा और तृष्णा की कीच में धँस जाते हैं।

आज हमारे नेता सूदखोरी को बढ़ावा दे रहे हैं और सेवा का एक स्वार्थन्धि गणित पनपा रहे हैं। यदि वे आपसे पैसा माँगने आते हैं, तो बताते हैं कि यदि हमारे पास इतना धन होगा तो हमें इतना ब्याज मिलेगा जो हमारे वर्ष-भर के बजट के लिए पर्याप्त होगा। यह ठीक नहीं है। इस तरह की जड़ता सेवा-की-भावना को तोड़ती है और युवापीढ़ी में एक विकृत संस्कार को जन्म देती है।

इसलिए हमें अपनी अनागत पीढ़ी को यह साफ-साफ बता देना होगा कि सेवा का क्षेत्र संचय का क्षेत्र नहीं है, त्याग और समर्पण का क्षेत्र है। धन सिर्फ वहीं से नहीं लाना है, जहाँ वह अपवित्र साधनों से संचित हुआ है, बल्कि वहाँ से भी लाना है जहाँ वह खरे पसीने और प्रामाणिकता/ईमानदारी के साथ कमाया गया है। आज ज्यादातर संस्थाएँ ऐसे धन-के-ब्याज-से चल रही हैं, जिनमें 'असली आदमी' की कमाई नहीं है। ध्यान रहे संपादकजी, जब तक असली आदमी-की-कमाई हमारे झोले में दाखिल नहीं होगी, सेवा का अभिनय तो होगा, सेवा नहीं होगी; अतः हमारे नेताओं को यदि वे कहीं हैं तो चाहिये कि वे इस हाथ धन ले और उस हाथ उसे पूरी निष्ठा से खरच करें; संचय, या परिग्रह का कोई लालच मन में न रखें। संचय में गंदगी है। तालाब नदी की तरह निर्मल नहीं हो सकता। सेवा नदी है, तालाब नहीं है। 'ब्याज-के-लिए-धन' तालाब है और 'इधर आया, उधर खर्च' (पूरी ईमानदारी से) में नदी जैसा निर्मल नीर है। नदी कभी सूखेगी नहीं, तालाब सूखेगा। हमें चाहिये कि हम सूदखोरी के इस संस्कार को घटायें और अपनी आगाामी पीढ़ी को साध्य और साधन की पवित्रताएँ विरासत में दें।

—प्रलयंकर

भी बेहतर भूमिकाएँ निभा लेती हैं; किन्तु आज जो लोग सिद्धान्तहीनता को ही सिद्धान्त मान कर चल रहे हैं उन्होंने चारों ओर ऐसी जड़ता बिछा दी है कि सारे किये-कराये पर पानी फिर गया है। जब ऐसे लोगों से प्रश्न किया जाता है कि वे आखिर करना क्या चाहते हैं, तो उनका उत्तर होता है : 'जनाब हम क्रान्ति चाहते हैं। समाज को जड़-मूल से बदल डालना चाहते हैं।' सच है कि कोई बदलाव जरूरी है; किन्तु बदलाव-की-शकल क्या हो इसे न जानते हुए जब कुछ लोग समाज को बदल डालने का बीड़ा उठाने लगते हैं तब लगता है कि यह जो कुछ किया जा रहा है वह शायद एक सिरफिरा आदमी भी करना पसंद नहीं करेगा।

दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जो काम-धन्धा कुछ इस तरह का कर रहे हैं, जिसका उनके धर्म से सीधा कोई ताल्लुक नहीं है; किन्तु ये ही लोग समाज में आते हैं तो स्वयं को शुद्ध धार्मिक जताते हैं। ऐसे लोग दुई-से-भरा आचरण करते हैं। उनके धन्धे में-से हिंसा और झूठ की बदबू आती है फिर भी वे मंच पर बेधड़क उपस्थित हो कर अहिंसा के ध्वज को ऊँचा लहराते हैं। आप ही बतायें कि क्या ऐसे दोहरे आचरण वाले खाली-खसस लोगों को धार्मिक या सामाजिक नेतृत्व करने का कोई अधिकार है ?

जब साफ-साफ कहा जा रहा है कि आपके इस पेशे से जैनधर्म की मौलिकताओं की रीढ़ टूट रही है, अतः मिहरबानी कर आप या तो नेतृत्व से हट जाइये या फिर कलेजा ही तो तुरन्त अपने व्यवसाय में आवश्यक तब्दीली कीजिये; तब भी लोग समझ नहीं पा रहे हैं और अड़े हुए हैं अपनी जगह। एक महानुभाव ने तो हिंसा-से-संबन्धित विज्ञापनों को ले कर एक बैठक में घोषणा भी कर दी कि भविष्य में अब उनका पत्र-समुदाय ऐसे विज्ञापन नहीं छापेगा और तालियाँ भी बजवा लीं; किन्तु कुछ ही दिनों बाद करार टूट गया और कहा जाने लगा कि मेरे लिए इस संबन्ध में कुछ भी करना संभव नहीं है। मेरे हाथ में कोई सूत्र नहीं है। हम पूछते हैं कि जब इतना सब वे जानते थे तब उन्होंने झूठी घोषणाएँ क्यों कीं? क्या अब उन्हें सामाजिक नेतृत्व से तुरन्त हट नहीं जाना चाहिये? ऐसा नहीं है कि यह समाज किसी एक खास आदमी को ले कर ही जी रहा है; असल में किसी भी समाज या मुल्क का ढाँचा जेनरेटिव्ह होता है। जब कोई व्यक्ति उपयोगी नहीं रहता, तब उसके हटने, या हटाये जाने पर समाज देर-अबेर से उससे बेहतर आदमी प्रदान करता है।

तय है कि जिस रिक्तता का अनुभव हम आज कर रहे हैं, वह असल में एक रचनात्मक खालीपन है। इस खालीपन में-से ही वे सारे लोग प्रकट होंगे जिनके हाथों में समाज की भावी बागडोर जाएगी। ये लोग निश्चय ही दोहरे चरित्र वाले दोगले लोग नहीं होंगे। इनके साथ संख्यात्मकता की जगह गुणात्मकता जुड़ी होगी। ये लोग जो कहेंगे, उसे करेंगे; और जो करेंगे उसे ही शब्द देंगे। संभव है ये लोग अमीर न भी हों; किन्तु अखलाख-के-धनी यानी चरित्रवान होंगे और जिस दायित्व को ओढ़ लेंगे उसे पूरी निष्ठा से निभायेंगे। अब वह क्षण काफी नजदीक है जब दिखावे/ढोंग की संस्कृति खत्म होगी और ऐसे लोग मैदान में आयेंगे जो ठोस/प्रामाणिक/विश्वसनीय होंगे। खाली कुसियों पर हमें ऐसे ही लोगों का इंतजार है। □

(आवरण पृष्ठ ३ का शेष)

लगा — इनाम अधिक-से-अधिक पचास रुपयों का हो सकता था; किन्तु यह क्या ? राजकुमार ने तो पूरे नौ लाख झोंक दिये ।

राजकुमारी ने और गजब किया । उसने भी अपना अकूत मूल्य का हार उस पर न्यौछावर कर दिया । राजा को बड़ा धक्का लगा । वह सोचने लगा — इस मूर्खा ने भी वही किया । सौ रुपयों की जगह कई लाख दे डाले ।

इतने में ही समीप बैठे एक संन्यासी ने अपना पाँच सौ का बढ़िया दुशाला नट को दे डाला । राजा स्तम्भित । उसे न तो अपने बेटे-बेटी का और न ही संन्यासी का बर्ताव समझ में आया । उसके चारों ओर प्रश्न-चिह्नों का एक घेरा नाचने लगा । वह समझ ही नहीं पा रहा था कि इन तीनों ने नट-नटनी के साथ ऐसा आचरण क्यों किया ? बेटे से पूछा तो उसने कहा — पिताजी, नट ने दोहे में जो कुछ कहा है उसके लिए नौ लाख तो क्या यदि मुझे अपना सर्वस्व भी देना पड़े तो कम है । मैं सोचता था कि आप अस्सी के हो गये हैं और अभी भी राजसत्ता से चिपटे हुए हैं । उसे मुझे नहीं दे रहे हैं; अतः मैंने तय कर लिया था कि मैं आपको जहर दे दूँ और राजसत्ता को हथिया लूँ; किन्तु इस दोहे ने मुझे जड़-मूल से बदल डाला है । अब मैं सोचता हूँ कि जब इतना वक्त बीत गया है, तब अब बाकी ही कितना रह गया है ? पिताजी कब तक रहेंगे ? उनके बाद सब कुछ मेरा ही तो होने वाला है । प्रतीक्षा कर । प्रतीक्षा का फल मीठा होता है खासतौर से तब जब कि ज्यादातर वक्त बीत चुका है । चंचल चित्त कभी ठीक से निर्णय नहीं ले सकता; उसके नतीजे बुरे होते हैं । पिताजी, इस दोहे के कारण मैं एक जघन्य अपराध से बच गया हूँ — इसलिए मैंने इसे जो भी दिया है, वह मुझे मिले सबक की तुलना में काफी कम है ।

बेटी ने कहा—पिताजी, मैं वज्रोर के बेटे से प्रेम करती हूँ । वह गरीब है; किन्तु मन का स्वच्छ है । मैं जानती थी आप किसी भी स्थिति में मेरी शादी उससे नहीं करेंगे, अतः मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं आज रात उसके साथ भाग निकलूँगी; किन्तु नट के इस दोहे ने मेरी आँखें खोल दीं । 'फल मिलने की बार' ने मेरी चेतना के दरवाजे खट-खटाये और मैं एक अविवेकपूर्ण कार्य करने से बच गयी । चूँकि आपके बाद भैया को राज्य मिलता । वे उदार हैं, मेरी शादी अवश्य होने देते ।

साधु ने कहा—इस नट ने जो सीख दी है, वह मेरी परम निधि है । वह अनुपम धन है । मैं पचहत्तर का हुआ हूँ; किन्तु मेरी तृष्णाएँ अभी मरी नहीं हैं । मैंने अपना दुशाला नट को इसलिए दे डाला चूँकि यह मेरे पास आधी सदी से है; क्यों ? सिर्फ मोह के

कारण । मैंने उस पर प्रहार किया है । अब मैं अपने इस शरीर को भी दुशाले की तरह खूँटी पर टाँग सकूँगा । अब थोड़ी-सी ही तो रह गयी है । इस बार यह दौंव क्यों चूकूँ ?

राजा सोचने लगा - माँ की गोद में आने से पहले यह जीव क्षण-भंगुरता की गोद में आता है; फिर भी यह इस मर्म को नहीं समझ पाता कि मनुष्य-भव कितना बहुमूल्य है, कितना दुर्लभ है ? यह आँजुरी-का-जल है; आज नहीं तो कल उम्र-का-जल अंगुलियों की संधियों में-से चुक जाएगा । बोधि-के-नयन खुलते ही उसने बेटे को राज्य दे दिया, बेटी की शादी कर दी, और संन्यासी से संन्यास ले लिया ।

उसे लगा कि हाँसिल करने योग्य यदि कुछ है तो वह है आत्मतत्त्व । जगत् की किसी भी वस्तु से हमारा क्या नाता हो सकता है ? सारे पदार्थ अपनी-अपनी सत्ताओं में विद्यमान हैं । सब स्वयं-में परिणम रहे हैं । किसी-का किसी-में रंच-भर भी प्रवेश, या हस्तक्षेप नहीं है - फिर तू क्यों फँसा है इस भ्रम-जाल में । मुक्त हो इससे । ज्ञाता-दृष्टा बन । देख और जान, जान और देख; किन्तु एक परम वीतरागता में ।

राग-की-आग में स्वयं को मत झुलसा । यह जो दृश्य हैं, उनके पार निकल जा-देख, किन्तु उलझ मत; जान, किन्तु उलझ मत; स्व-पर को जान, और अत्यन्त निष्काम चित्त से शरीर के पार निकल जा । तू उस देश को क्यों भूल रहा है, जो तेरा अपना देश है- स्व-देश है । दूसरों का देश अपना देश नहीं है; जो अपना है, वह अपना है और एक बहुत लम्बे फासले तक ही नहीं सदैव/सर्वदा अपना है । जो कुछ समय के लिए अपना है, वह अपना नहीं, पराया है; सिर्फ भ्रम है कि अपना है, वस्तुतः अपना नहीं है ।

इस अमृत ने जिस तरह राजा की आँखें खोल दीं वैसे ही इस तथ्य के भीतर झाँक कर और अपने अतीत में-से हो कर हम अपनी भी आँखें खोल सकते हैं ।

जो मोह को जीत लेते हैं, उनके लिए जीतने को अन्य कुछ बच ही नहीं रहता । मोह बहुरूपिया है । कई शकल ग्रहण करता है । इसके कई-कई संस्करण सामने आये हैं/आते हैं/आयेंगे । इसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि इसे उखाड़ फेंकने में न सिर्फ मुश्किल होती है अपितु कई बार निराशाओं का सामना करना पड़ता है । मन के भीतर इसकी आड़ी-टेढ़ी जड़ें उलझ कर फँसी रहती हैं । ध्यान एक तो उन पर जा नहीं पाता, दूसरे उन्हें मन-की-जमीन पर से हटाना काफी मुश्किल होता है ।

मोह का एक विशद परिवार है । वह एक-अकेला नहीं है । क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंवेद और मिथ्यात्व उसके

कृटुम्बी हैं। इस या उस शकल में वह इस या उस कोने में तप और साधना के आक्रमण के होते भी बना रहता है। उसके कई नाम हैं, कई आयाम हैं। भ्रम, भ्रान्ति, अज्ञान, अविद्या, मूर्खता, मूढ़ता, उद्विग्नता, अन्धविश्वास, आसक्ति, मूर्च्छा, व्यामोह, अविवेक सब उसी के नाम हैं। ये सारे शब्द दीख एक-जैसे अर्थ वाले पड़ते हैं; किन्तु इनकी छबियाँ अलग-अलग हैं। मोह की कई लहरें/तरंगें हैं, जो मन-के-तट को जब-तब छूती और संकट में डालती हैं।

मोह ही मन-को-चंचल या विचलित रखता है। चित्त पर उसके छा जाने से न तो कर्त्तव्य का भान रहता है और न ही हेयोपादेय का। सूझ ही नहीं पड़ता उसके निबिड़/घनीभूत कोहरे में कि 'स्व' कहाँ है? 'स्व' पर तो वह इतना सघन हो पड़ता है कि उसकी सही पहिचान ही ढँक जाती है। 'पर' और 'स्व' में जहाँ भेद नहीं रह जाता वहाँ होता है मोह। यह एक ऐसी चुनौती है।

जिसे झेलना न सिर्फ कठिन है बल्कि दुस्सह भी है। मोह इतना प्रहारक होता है कि उसकी व्यूह-रचना का हम ठीक-से अनुमान नहीं लगा सकते। वह बाघ की तरह दबे पाँव हमला करता है। उसकी आँखों में छल तैरता है और वह प्राणि-मात्र पर अपने नुकीले पंजे हर क्षण बनाये रखता है। वैराग्य ही एक ऐसा उपाय है जो मोह-क्षय कर सकता है।

—प्रलयंकर।

(पृष्ठ १७ का शेष)

विहार आदि बताये बाद उनका दृश्य-रूप में मोक्ष-गमन न ब्रता कर उनके मोक्ष-गमन का मात्र स्मरण कर लेना चाहिये कि इसके बाद भगवान् मोक्ष पधार गये। इसी आशय को ले कर जयसेन ने स्वरचित 'प्रतिष्ठा-शास्त्र' पद्य नं. ९११ के आगे गद्य में ऐसा लिखा है—

“निर्वाण भक्तिरेव निर्वाण कल्याणरोषणं ।

साक्षात् न विधेयं, स्मरणीयमेवेति ॥

अर पंच कल्याणनि मे च्यारि कल्याण तो विधान संयुक्त किया अर पंचम कल्याण मोक्ष कल्याण है तो निर्वाण-भक्ति-पाठ मात्र ही आरोपण करना। साक्षात् विधान नहीं करना। स्मरण मात्र ही है। ऐसा-अनिर्वाच्य लिखने के साथ-ही-साथ अन्य कल्याणकों की तिथियों की पूजा लिखी है। मोक्ष-तिथियों की पूजा नहीं लिखी है और न मोक्ष-कल्याण के निमित्त इन्द्रादि देवों का आगमन भी नहीं लिखा है। तब अग्नि कुमार देव के मुकुट से अग्नि उत्पन्न करना आदि दृश्य दिखाना स्पष्ट ही शास्त्र-विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त अरिहन्त मूर्ति के पादपीठ पर जो प्रतिष्ठा-की-तिथि अंकित की जाती है, वह भी ज्ञान-कल्याणक के दिन की ही अंकित की जाती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्हत्प्रतिमा में मोक्ष-कल्याणक का साक्षात् विधान (दृश्यरूप) नहीं है; स्मरण-मात्र है। साक्षात् विधान असंगत है।

क्या पाठकगण, प्रतिष्ठाचार्य, विद्वान् इस युक्ति-युक्त समस्या पर विचार करेंगे?



'द्रव्यसंग्रह' की यह गाथा कई दिनों से जेहन-पर-बैठी खुद को पत-दर-पत उघाड़ रही थी । पहले इसके मायने उतने साफ नहीं थे । तब वह एक जिसे-जिया-नहीं-गवा-था-ऐसी गाथा थी । अब जब उसे जी कर देख गया हूँ तब उसके अर्थ दिग्म्बर रूप में प्रकट हो निकले हैं । गाथा है—'मा चिट्ठह मा जंपह मा चितह कित्रि जेण होइ थिरो । अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्जाणं ॥'

चेष्टा मत कर, बोल मत, सोच मत, स्वयं को स्वयं में टाँक, उत्कीर्ण कर—स्थिर कर ।

स्वयं-को स्वयं-में उपस्थित कर, और उसे लगातार अनुपस्थित कर जो 'स्व' नहीं है । इसमें ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'पर' में से 'स्व' की संपूर्ण वापसी ध्यान है । ध्यान और कुछ नहीं है वह है मोहजाल से स्वयं को निवृत्त करना । निश्चेष्ट होने का मतलब पुरुषार्थ-से-खाली-होना नहीं है, बल्कि जो 'पर' है उसमें-से स्वयं को बाहर खींचना है । भ्रम-वश जिन्हें हम अपना मान बैठे हैं/बैठते हैं, उनमें-से स्वयं को बाहर खींचना ध्यान है ।

'मा चिट्ठह मा जंपह मा चितह अप्पा रओ'—'स्व' को 'स्व' में डालो, रोको — 'पर' को छोड़ो इस तरह कुछ जैसे सल्लेखना के-क्षणों में कोई मुनिराज अपने जीर्ण शरीर को एक फटे-पुराने वस्त्र की तरह खूँटी पर टाँग देते हैं और अपनी संचेतना में एक ज्ञाता-दृष्टा (भागीदार नहीं) की तरह उसे देखते हैं ।

क्या हम दुनियावी रिश्तों को एक फटे-पुराने वस्त्र की तरह वैराग्य-की-खूँटी पर टाँग सकते हैं ? सहजानन्द वर्णी इस संदर्भ में एक किस्सा सुनाते थे ।

एक राजा था । निहायत कंजूस । जान भले ही जाए; किन्तु कोई एक न जाए ।

एक बार उसके दरबार में नट-नटनी गाने-नाचने आये ।

नाच-गाना रात-भर चला । ढलती रात तक भी राजा ने कोई बख्शीश नहीं दी ।

नटनी हाँफ रही थी । थक कर चूर हुई थी । नट से बोली — ताल धीमी करो ।

बहुत थक गयी हूँ । आराम चाहिये ।

नट बोला — आराम कैसा ? 'गई बहुत थोड़ी रही, थोड़ी हू तो जात । अब मत चूके

नटनी, फल मिलने की बार ।' आशय था नटनी हम तीन-चौथाई-से-अधिक मैदान जीत

चुके हैं । अब बहुत कम वक्त रह गया है । साहस जुटा और इतना और कर डाल । भला फल मिलने के क्षणों में कोई प्रमाद करता है ?

नट जब यह दोहा सुना रहा था, तब कुछ और लोग भी यह सब देख-सुन रहे थे । दोहे

ने नटनी के चित्त और चरण मजबूत कर दिये । वह पहले से कहीं बेहतर नाचने-

थिरकने लगी । उसकी आँखों में एक नयी ही दमक आ गयी ।

दोहा राजपुत्र ने सुना तो उसकी आँखें खुल गयीं । उसने नटनी पर अपना नौलखा

हार न्यौछावर कर दिया । राजा कृपण था । वह धन-के-मोह-में अंधा था । वह सोचने

तराजू की तरह बनें

- जो बुराई से डरता है और स्वयं भोजन करने से पहले दूसरों को दान देता है, उसका वंश कभी निर्बीज नहीं होता ।
- जो पहले अतिथि को आहार दे कर फिर शोषान्न ग्रहण करता है, उस व्यक्ति को खेती करने की क्या आवश्यकता है ?
- अपने आचरण की पूरी साल-सँभाल रखो; क्योंकि तुम इस जगत् में कहीं भी खोज देखो, सदाचार से बढ़ कर कोई पक्का मित्र कहीं नहीं मिलेगा ।
- लबालब भरे गाँव-के-तालाब को देखो । जो मनुष्य प्रकृति से प्रेम करता है, उसकी संपत्ति ऐसे ही तालाब की तरह लबालब रहती है । जिसने स्वयं पर प्रभुता प्राप्त कर ली है, उस पुरुषोत्तम को कौन नहीं पूजता ?
- तराजू की उस संतुलित डंडी की ओर देखो, जो सीधी है और दोनों ओर एक-सी है । बुद्धिमानों का गौरव इसी में है कि वे तराजू-की-तरह बनें-न इधर झुकें, न उधर ।
- जब तुम्हारा मन सत्य से रूठ कर असत्य ओर झुकने लगे तब समझ लो कि तुम्हारा सर्वनाश निकट ही है ।
- त्याग की चट्टान पर खड़े महापुरुषों के र क क्रोध को एक पल भी सह पाना असंभव है ।
- पुत्र के प्रति पिता का कर्त्तव्य है कि सभा-की-प्रथम-पंक्ति में बैठने योग्य बना दे ।
- और पिता के प्रति पुत्र का कर्त्तव्य क्या गही कि लोग उसे देख कर पिता से पूछें कि किस तपोबल से तुम्ह सुपुत्र मिला है ?
- बदला लेने का आनन्द सिर्फ एक दिन का है; किन्तु क्षमा करने वाले का गौरव सदा बना रहता है ।
- जिनकी दृष्टि व्यापक है, वे भूल कर भी निरर्थक/अनर्गल शब्दों का उच्चारण नहीं करते ।

-तिरुवकुरल; आचार्य कुन्दकुन्द

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित।